निवेदन ।

स्त्री पुरुष का सहचरत्व एक स्वाभाविक आवश्यक एवं उपयोगी बात है। यह प्रचलन सृष्टि के प्रारंभ काल से ही चला आया है और अन्त तक चलता रहेगा। यह सहचरत्व आमतौर से प्रायः हर एक वयस्क स्त्री पुरुष को स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु इस गृहस्थ धर्म में अनेक प्रकार की ऐसी विकृतियां पैदा होगई हैं जिनके कारण देखा जाता है कि स्त्री पुरुष आपस में उतने संतुष्ट नहीं रह पाते जिससे सहचरत्व का सच्चा सुख प्राप्त किया जासके। पिछले दिनों तो यह विकृतियां इतनी अधिक होगई थीं कि लोग उससे ऊबने लगे, उसमें दोष देखने लगे और उससे पृथक रहने की बात सोचने लगे। धर्म मंच तक यह प्रश्न पहुंचा और जहां तहां ऐसी विचारधारा प्रचार कीजाने लगी जिससे गृहस्थ बनना एक प्रकार की निर्बलता, गिरावट समझी जाने लगी। गृहस्थ बनना नरक का मार्ग है और घरबार को छोड़ बाबाजी बन जाना स्वर्ग का रास्ता है यह विचारधारा हमारे देश में पिछले दिनों अधिक पनपी। फलस्वरूप चौरासी लाख साधु हमें इधर उधर फिरते नजर आते हैं।

हमें मालूम है कि उपरोक्त विचार धारा गलत है, हम जानते हैं कि गृहस्थ और सन्यास दोनों अवस्थाओं में समान रूप से आत्मोन्नति की जासकती है। गृहस्थ धर्म का उचितरीति से पालन करने से भी मनुष्य योग के फल को प्राप्त कर सकता है और स्वर्ग एवं मुक्ति का अधिकारी बन सकता है। इस तथ्य के ऊपर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है। हमें आशा है कि यह पुस्तक पाठकों को पारिवारिक जीवन का सुख तथा धार्मिक आनंद उपलब्ध कराने में सहायक होगी।

—श्रीराम शर्मा

गृहस्थ-योग।

—:o:—

'योग' का अर्थ है—'जोड़' 'मिलना'। मनुष्य की साधारण स्थिति ऐसी होती है जिसमें वह अपूर्ण होता है। इस अपूर्णता को मिटाने के लिए वह किसी दूसरी शक्ति के साथ अपने आपको जोड़कर अधिक शक्ति का सचय करता है, अपनी सामर्थ्य बढ़ाता है और उस सामर्थ्य के बल से अपूर्णता को दूर कर पूर्णता की ओर तीव्र गति से बढ़ता जाता है, यही योग का उद्देश्य है। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हठयोग, राजयोग, जपयोग, लययोग, मन्त्रयोग, तन्त्रयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, स्वरयोग, ऋजुयोग, महायोग, कुंडलिनी योग, बुद्धियोग, समत्वयोग, ध्यानयोग, प्राणयोग, सांख्ययोग, जड़योग, सूर्ययोग, चन्द्रयोग, सहजयोग, प्रणवयोग, निलययोग, आदि ८४ प्रसिद्ध योग और ७०० अप्रसिद्ध योग हैं। इन विभिन्न योगों की कार्यप्रणाली, विधि व्यवस्था और साधना पद्धति एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है तो भी इन सबकी जड़ में एक ही तथ्य काम कर रहा है। माध्यम सबके अलग अलग हैं पर उन सभी माध्यमों द्वारा एक ही तत्व ग्रहण किया जाता है। तुच्छता से महानता की ओर, अपूर्णता से पूर्णता की ओर, असत् से सत् की ओर, तम से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर, जो प्रगति होती है उसी का नाम योग है। अणु आत्मा का परम+आत्मा बनने का प्रयत्न ही योग है। वह प्रयत्न जिन जिन मार्गों से होता है उन्हें योग मार्ग कहते हैं।

एक ही स्थान तक पहुंचने के लिए विभिन्न दिशाओं से विभिन्न मार्ग होते हैं, आत्म विस्तार के भी अनेक मार्ग हैं। इन मार्गों में स्थूल दृष्टि से भिन्नता होते हुए भी, सूक्ष्म दृष्टि से पूर्ण रूपेण एकता है। जैसे भूख बुझाने के लिए कोई रोटी, कोई चावल, कोई दलिया, कोई मिठाई, कोई फल, कोई मांस खाता है। यह सब चीजें एक दूसरे से बिलकुल पृथक प्रकार की हैं तो भी इन सब से "भूख मिटाना" यह एक ही उद्देश्य पूर्ण होता है। इसी प्रकार योग के नाना रूपों का एक ही प्रयोजन है—आत्म भाव को विस्तृत करना—तुच्छता को महानता की पूँछ के साथ बांध देना।

अनेक प्रकार के योगों में एक योग "गृहस्थयोग" भी है। गंभीरता पूर्वक इसके ऊपर जितना ही विचार किया जाता है यह उतना ही अधिक महत्व पूर्ण, सर्व सुलभ तथा स्वल्प श्रम साध्य है। इतना होते हुए भी इससे प्राप्त होने वाली जो सिद्धि है वह अन्य किसी भी योग से कम नहीं वरन् अधिक ही है। गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमों की पुष्टि और वृद्धि करने वाला है, दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास यह तीनों ही आश्रम गृहस्थाश्रम को व्यवस्थित और सुख शान्तिमय बनाने के लिए हैं। ब्रह्मचारी इस लिए ब्रह्मचर्य का पालन करता है कि उसका भावी गृहस्थ जीवन शक्तिपूर्ण और समृद्ध हो। वानप्रस्थ और सन्यासी लोग लोक हित की साधना करते हैं, संसार को अधिक सुख शान्ति मय बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह 'लोक' और "संसार" क्या है? दूसरे शब्दों में गृहस्थाश्रम ही है। तीनों आश्रम एक ओर—और गृहस्थ आश्रम दूसरी ओर—यह दोनों पलड़े बराबर हैं। यदि गृहस्थाश्रम की व्यवस्था बिगड़

जाय तो अन्य तीनों आश्रमों की मृत्यु ही समझिए।

गृहस्थ धर्म का पालन करना धर्मशास्त्रों के अनुसार मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य है। लिखा है कि—संतान के बिना पितर नरक को जाते हैं, उनकी सद्‌गति नहीं होती। लिखा है कि—संतान उत्पन्न किए बिना पितृ ऋण से छुटकारा नहीं मिलता। कहते हैं कि—जिसके संतति न हो उसका प्रातःकाल मुख देखने से पाप लगता है। इस प्रकार के और भी अनेक मन्तव्य हिन्दू धर्म में प्रचलित हैं जिनका तात्पर्य यह है कि गृहस्थ धर्म का पालन करना आवश्यक है। इतना जोर क्यों दिया गया है? इस बात पर जब तात्विक दृष्टि से गंभीर विवेचना की जाती है तब प्रकट होता है कि गृहस्थ धर्म एक प्रकार का योग साधना है जिससे आत्मिक उन्नति होती है, स्वर्ग मिलता है, मुक्ति प्राप्त होती है और ब्रह्म निर्वाण की सिद्धि मिलती है। प्राचीन समय में अधिकांश ऋषि गृहस्थ थे। वशिष्ठ जी के सौ पुत्र थे, अत्रि जी की स्त्री अनुसूया थीं, गौतम की पत्नी अहिल्या थीं, जमदग्नि के पुत्र परशुराम थे, च्यवन की स्त्री सुकन्या थी, याज्ञवल्क की दो स्त्री गार्गी और मैत्रेयी थीं, लोमश के पुत्र शृङ्गीऋषि थे। वृद्धावस्था में सन्यास लिया हो यह बात दूसरी है परन्तु प्राचीन काल में जितने भी ऋषि हुए हैं वे प्रायः सभी गृहस्थ रहे हैं। गृहस्थ में ही उन्होंने तप किये हैं और ब्रह्म निर्वाण पाया है। योगिराज कृष्ण और योगेश्वर शंकर दोनों को ही हम गृहस्थ रूप में देखते हैं। प्राचीन काल में बाल रखाने, नंगे बदन रहने, खड़ाऊ पहनने, मृगछाला बिछाने का आम-रिवाज था, घनी आबादी न होने के कारण छोटे गांव और छोटी कुटियां होती थीं। इन चिन्हों के आधार पर गृहस्थ ऋषियों को गृह-त्यागी मानना अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है।

आत्मोन्नति करने के लिए गृहस्थ धर्म एक प्राकृतिक, स्वाभाविक, आवश्यक और सर्व सुलभ योग है। जब तक लड़का अकेला रहता है तब तक उसकी आत्म भावना का दायरा छोटा रहता है। वह अपने ही खाने, पहनने, पढ़ने, खेलने तथा प्रसन्न रहने की सोचता है उसका कार्य क्षेत्र अपने आप तक ही सीमित रहता है। जब विवाह होजाता है तो यह दायरा बढ़ता है, वह अपनी पत्नी की सुख सुविधाओं के बारे में सोचने लगता है, अपने खर्च और मर्जी पर प्रतिबन्ध लगाकर पत्नी की आवश्यकतायें पूरी करता है, उसकी सेवा सहायता और प्रसन्नता में अपनी शक्तियों को खर्च करता है। कहने का तात्पर्य यह कि आत्म भाव की सीमा बढ़ती है, एक से बढ़कर दो तक आत्मीयता फैलती है। इसके बाद एक छोटे शिशु का जन्म होता है इस बालक की सेवा शुश्रूषा और पालन पोषण में निस्वार्थ भाव से इतना मनोयोग लगता है कि अपनी निजी सुख सुविधाओं का ध्यान मनुष्य भूल जाता है और बच्चे की सुविधा का ध्यान रखता है। इस प्रकार-वह सीमा दो से बढ़कर तीन होती है। क्रमश: यह मर्यादा बढ़ती है। पिता कोई मधुर मिष्टान्न लाता है तो उसे खुद नहीं खाता वरन् बच्चों को बाट देता है, खुद कठिनाई में रहकर भी बालकों की तन्दुरुस्ती, शिक्षा और प्रसन्नता का ध्यान रखता है। दिन दिन खुद गर्जी के ऊपर अंकुश लगाता जाता है, आत्म सयम सीखता जाता है और स्त्री, पुत्र, सम्बन्धी, परिजन आदि में अपनी आत्मीयता बढ़ाता जाता है। क्रमश: आत्मोन्नति की ओर चलता जाता है।

भगवान मनु का कथन है कि–"पुरुष, उसकी पत्नी और सन्तान मिलाकर ही एक 'पूरा मनुष्य' होता है।" जब तक यह सब नहीं होता तब तक वह अधकचरा, अधूरा और खंडित मनुष्य है। जैसे प्रवेशिका परीक्षा पास किए बिना कालेज में

प्रवेश नहीं हो सकता, उसी प्रकार गृहस्थ की शिक्षा पाए बिना वानप्रस्थ सन्यास आदि में प्रवेश करना कठिन है। आत्मीयता का दायरा क्रमशः ही बढ़ता है। अकेले से, पति पत्नी दो में, फिर बालक के साथ तीन में, कुटुम्ब में, सम्बन्धियों में, पड़ौसियों में, गांव, प्रान्त, प्रदेश, राष्ट्र, विश्व में यह आत्मीयता क्रमशः बढ़ती है, आगे चल कर सारी मनुष्य जाति में आत्मभाव फैलता है फिर पशु पक्षियों में, कीट पतंगों में, जड़ चैतन्य में यह आत्म-भाव विकसित होजाता है। जो प्रगति एक से बढ़कर दो में, दो से तीन में हुई थी, वही उन्नति धीरे धीरे आगे बढ़ती जाती है और मनुष्य सम्पूर्ण चर अचर में आत्म सत्ता को ही समाया देखता है, उसे परम आत्मा की दिव्य ज्योति सर्वत्र जगमगाती दीखती है। पत्नी तक अपने मन को जितने अंशों में फैलाया जाता है उतने अंशों में अपनी खुदगर्जी पर संयम होता है। बाल बच्चों के होने पर यह आत्म संयम और अधिक बढ़ता है अन्त में जीव पूर्ण तथा आत्म संयमी हो जाता है। दूसरों के लिए अपने आपको भूलने का अभ्यास क्रमशः इतना अधिक पुष्ट हो जाता है कि अपना कुछ रहता ही नहीं, सब कुछ बिराना हो जाता है। "मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर" की ध्वनि उसके अन्दर से निकलने लगती है। खुदी मिटती जाती है और खुदा मिलता जाता है। " मैं " का अन्त होने से " तू " ही शेष रहता है। गृहस्थ योग की छोटी सी सर्व सुलभ साधना जब अपनी विकसित अवस्था तक पहुंचती है तो आत्मा, परमात्मा बन जाती है। अपूर्णता से छुटकारा पाकर पूर्णता उपलब्ध करती है और योग का वास्तविक उद्देश्य पूरा हो जाता है।



दृष्टिकोण का परिवर्तन ।



इस बात को भली प्रकार समझ रखना चाहिए कि योग का अर्थ अपनी तुच्छता, सकीर्णता को महानता, उदारता और विश्वबन्धुत्व में जोड़ देना है। अर्थात् स्वार्थ का परिशोधन करके उसे परमार्थ बना लेना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये असंख्य प्रकार के योगों की साधनायें की जाती हैं उन्हीं में से एक गृहस्थ योग की साधना है। अन्य साधनाओं की अपेक्षा यह अधिक सुलभ और स्वाभाविक है। इसलिये आचार्यों ने गृहस्थ योग का दूसरा नाम सहज योग भी रखा है। महात्मा कबीर ने अपने पदों में सहज योग की बहुत चर्चा और प्रशंसा की है।

किसी वस्तु को समुचित रीति से उपयोग करने पर वह साधारण होते हुये भी बहुत बड़ा लाभ दिखा देती है और कोई वस्तु उत्तम होते हुए भी यदि उसका दुरुपयोग किया जाय तो वह हानिकारक हो जाती है। दूध जैसे उत्तम पौष्टिक पदार्थ को भी यदि अविधि पूर्वक सेवन किया जाय तो वह रोग और मृत्यु का कारण बन सकता है इसके, विपरीत यदि जहर को भी उचित रीति से शोधन मारण करके काम में लाया जाय तो वह अमृत के समान रसायन का काम देता है। गृहस्थाश्रम के संबंध में भी यही बात है यदि उचित दृष्टिकोण के साथ आचरण किया जाय तो गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी ब्रह्म निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है जैसा कि अनेक ऋषि महात्मा योगी और तपस्वी पूर्वकाल में प्राप्त कर चुके हैं। आज कल गृहस्थों को दुख चिन्ता, रोग, शोक, आधि व्याधि, पाप ताप में ग्रसित अधिक

देखा जाता है इससे ऐसा अनुमान न लगाना चाहिए कि इसका कारण गृहस्थाश्रम है, यह तो मानसिक विकारों का, कुविचार और कुसंस्कारों का फल है। दूषित मनोवृत्तियों के कारण हर एक आश्रम में, हर एक वर्ण में, हर एक देश में ऐसे ही संकट दुख उपस्थित होंगे। इसके लिये बेचारे गृहस्थाश्रम को दोष देना बेकार है। यदि वह वास्तव में ही दूषित, त्याज्य या तुच्छ होता तो संसार के महापुरुषों, अवतारों और युग निर्माताओं ने इससे अपने को अलग रखा होता, किन्तु हम देखते हैं विश्व की महानता का करीब करीब समस्त इतिहास गृहस्थाश्रम की धुरी पर केन्द्रीभूत होरहा है।

आत्मीयता की उन्नति के लिए अभ्यास करने का सबसे अच्छा स्थान अपना घर है। नट अपने घर के आंगन में कला खेलना सीखता है। बालक अपने घर में खड़ा होना और चलना फिरना सीखता है योग की साधना भी घर से ही आरम्भ होनी चाहिए। प्रेम, त्याग और सेवा का अभ्यास करने के लिये अपने घर का क्षेत्र सब से अच्छा है। इन तत्वों का प्रकाश जिस स्थान पर पड़ता है वही चमकने लगता है। जब तक आत्मीयता के भावों की कमी रहती है तब तक औरों के प्रति दुर्भाव, घृणा, क्रोध, उपेक्षा के भाव रहते हैं किन्तु जब अपने पन के विचार बढ़ने लगते हैं तो हलके दर्जे की चीजें भी बहुत सुन्दर दिखाई पड़ने लगती हैं। माता अपने बच्चे के प्रति आत्म भाव रखती है इसलिए यदि वह लाभदायक न हो तो भी उसे भरपूर स्नेह करती है, पतिव्रता पत्नियों को अपने काले कलूटे और दुर्गुणी पति को भी इन्द्र जैसे सुन्दर और बृहस्पति जैसे गुणवान लगते हैं।

दुनियां में सारे झगड़ों की जड़ यह है कि हम देने कम

है और मांगते ज्यादा हैं। हमें चाहिए कि दें बहुत और बदला बिल्कुल न मांगें या बहुत कम पाने की आशा रखें। इस नीति को ग्रहण करते ही हमारे आस पास के सारे झगड़े मिट जाते हैं। आत्मीयता की महान साधना में प्रवृत्त होने वाले को अपना दृष्टिकोण देने का—त्याग और सेवा का बनाना पड़ता है। आप प्रेम की उदार भावनाओं से अपने अन्तःकरण को परिपूर्ण कर लीजिए और सगे सबधियों के साथ त्याग एव सेवा का व्यवहार करना आरम्भ कर दीजिए। कुछ ही क्षणों के उपरान्त एक चमत्कार हुआ दिखाई देने लगेगा। अपना छोटा सा परिवार जो शायद बहुत दिनों से कलह और क्लेशों का घर बना हुआ है—सुख शान्ति का स्वर्ग दीखने लगेगा। अपनी आत्मीयता की प्रेम भावनाऐ परिवार के—आस पास के—लोगों से टकरा कर अपने पास वापिस लौट आती है और वे आनन्द की भीनी भीनी सुगन्धित फुहार से छिड़क कर मुरझाये हुए अन्तःकरण को हरा कर देती हैं।

माली अपने ऊपर ...

... आता है। दूध जैसे उत्तम पौष्टिक पदार्थ को भी यदि अविधि पूर्वक सेवन किया जाय तो वह रोग और मृत्यु का कारण बन सकता है इसके, विपरीत यदि जहर को भी उचित रीति से शोधन मारण करके काम में लाया जाय तो वह अमृत के समान रसायन का काम देता है। गृहस्थाश्रम के संबंध में भी यही बात है यदि उचित दृष्टिकोण के साथ आचरण किया जाय तो गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी ब्रह्म निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है जैसा कि अनेक ऋषि महात्मा योगी और तपस्वी पूर्वकाल में प्राप्त कर चुके हैं। आज कल गृहस्थों को दुख चिन्ता, रोग, शोक, आधि व्याधि, पाप ताप में ग्रसित अधिक

हुए अपना उत्तरदायित्व पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए। अपने परिवार के सदस्य भी परमार्थ, पुण्य, लोक सेवा, ईश्वर पूजा से किसी प्रकार कम नहीं है।

स्वार्थ और परमार्थ का मूल बीज अपने मनोभाव, दृष्टि कोण के ऊपर निर्भर है। यदि पत्नी के प्रति अपनी नौकरानी, दासी, सम्पत्ति, भोग सामिग्री समझ कर अपना मतलब गाँठने, सेवाएं लेने, शासन करने का भाव हो तो यह भाव ही स्वार्थ, नरक, कलह, भार, दुख की ओर लेजाने वाला है। यदि उसे अपने उपवन का एक सुरम्य सरस वृक्ष समझ कर उसकी सात्विक त्याग मय सेवा का, पुनीत उदारता मय प्रेम का, भाव हो, अपने स्वार्थ की अपेक्षा उसके स्वार्थ को महत्व देने का भाव हो तो यह भाव ही दाम्पत्ति जीवन को पत्नी सान्निध्य को परमार्थ, स्वर्ग, स्नेह और आनन्द का घर बनाया जा सकता है "देना कम और लेना ज्यादा" यह नीति झगड़े की, पाप की, कटुता की, नरक की जड़ है। 'देना ज्यादा और लेना कम से कम" यह नीति-प्रेम, सहयोग, पुण्य, और स्वर्ग की जननी है। बदला चाहने, लेने की, स्वार्थ साधने, सेवा कराने की स्वार्थ दृष्टि से यदि पत्नी, पुत्र, पिता, भाई, भतीजे, माता, भूआ, बहिन, को देखा जाय तो यह सभी बड़े स्वार्थी, खुदगर्ज, बुरे, रूखे, उपेक्षा करने वाले, उद्दंड दिखाई देंगे, उनमें एक से एक बढ़ी बुराई दिखाई पड़ेगी और ऐसा लगेगा मानो गृहस्थ ही सारे दुखों स्वार्थों और पापों का केन्द्र है। कई व्यक्ति गृहस्थी पर ऐसा ही दोष लगाते हुए कुढ़ते रहते हैं, खिन्न रहते हैं एवं घर छोड़ कर भाग खड़े होते हैं। असल में यह दोष परिवार वालों का नहीं वरन् उनके अपने दृष्टिकोण का दोष है, पीला चश्मा पहनने वाले को हर एक वस्तु पीली ही दिखाई पड़ती है।

प्रत्येक मनुष्य अपूर्ण है, वह अपूर्णता से पूर्णता की ओर यात्रा कर रहा है। ऐसी दशा में यह आशा नहीं रखनी चाहिए कि हमारे परिवार के सब सदस्य स्वर्ग के देवता, हमारे पूर्ण आज्ञानुवर्ती होंगे। जीव अपने साथ जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों को साथ लाता है, यह संस्कार धीरे धीरे, बड़े प्रयत्न पूर्वक घटते जाते हैं, एक दिन में उन सब का परिवर्तन नहीं हो सकता, इसलिए यह आशा रखना अनुचित है कि परिवार वाले पूर्णतया हमारे आज्ञानुवर्ती ही होंगे। उनकी त्रुटियों को सुधारने में, उन्हें आगे बढ़ाने में, उन्हें सुखी बनाने में सन्तोष प्राप्त करने का अभ्यास डालना चाहिए। अपनी इच्छाओं की पूर्ति से सुखी होने की आशा करना इस संसार से एक असंभव मांग करना है। दूसरे लोग हमारे लिये यह करें, परिवार वाले इस प्रकार का हमसे व्यवहार करें, इस भाव के ऊपर अपनी प्रसन्नता को केन्द्रित करना एक बड़ी भूल है इस भूल को जो लोग करते हैं उन्हें गृहस्थ के आनन्द से प्रायः पूर्णतया वंचित रहना पड़ता है।

स्मरण रखिए गृहस्थ का पालन करना एक प्रकार के योग की साधना करना है। इसमें परमार्थ, सेवा, प्रेम, सहायता, त्याग, उदारता और बदला पाने की इच्छा से विमुखता, यही दृष्टि कोण प्रधान है। जो इस दृष्टि को धारण किये हुए है वह आदर्श स्थिति में है वह घर में रहते हुए भी सन्यासी है।

गृहस्थ में वैराग्य ।

गृहस्थ आश्रम की निन्दा करते हुए कोई कोई सज्जन ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि—"घर गृहस्थी में पड़ना माया के बंधन में फँसना है।" उनकी दृष्टि में घर गृहस्थी माया का पिटारा है और बिना गृहस्थी रहना स्वर्ग की निशानी है। परंतु विचार करने पर प्रतीत होता है कि उपरोक्त कथन कुछ विशेष महत्व का नहीं है। कारण यह है कि माया का बंधन बाहरी वस्तुओं या बाहरी मनुष्यों में नहीं वरन् अपनी मनोवृत्तियों में है यदि मन अपवित्र है, काम, क्रोध, लोभ, मोह से भरा हुआ है तो जो बातें गृहस्थ में होती हैं वही सन्यास में घर से बाहर भी होसकती है। हमने देखा है कि बहुत से बाबाजी कहलाने वाले महाराज भिक्षा माँग माँगकर धन जोड़ते हैं, मरने पर उनके पास प्रचुर धन राशि निकलती है। हमने देखा है कि गृह-विहीन लोगों की इन्द्रियां भी लोलुप होती है। शब्द रस रूप गंध स्पर्श में वे लोलुप रुचि प्रकट करते हैं, उनके आकर्षण से आकर्षित होते हैं। अपनी वस्तुओं से—कुटी, दण्ड, पुस्तक, पात्र शिष्य, साथी आदि से—ममता रखते हैं। यही सब बातें हो दूसरे रूप में गृहस्थों में होती हैं।

वैराग्य, त्याग, विरक्ति इन महातत्वों का सीधा संबंध अपने मनोभावों से है। यदि भावनाएं संकीर्ण हों, कलुषित हों, स्वार्थमयी हों तो चाहे जैसी उत्तम सात्विक स्थिति में मनुष्य क्यों न रहे मन का विकार वहां भी पाप को दुराचार की सृष्टि करेगा। यदि भावनाएं उदार एवं उत्तम हैं तो अनमिल और अनिष्ट कारक स्थिति में भी मनुष्य पुण्य एवं पवित्रता उत्पन्न करेगा। महात्मा इमर्सन कहा करते थे कि—"मुझे नरक में भेज दिया जाय तो भी मैं वहां अपने लिए स्वर्ग बना लूँगा।"

वास्तविक सत्य यही है, हर आदमी अपनी भीतरी स्थिति का प्रतिबिम्ब दुनियां के दर्पण में देखता है। यदि उसके मनमें माया है तो घर, बाहर, वन, अरण्य, मंदिर, स्वर्ग सब जगह माया ही माया है, माया के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यदि मन साफ है, पवित्रता, प्रेम, और परमार्थ की दृष्टि है तो घर का एक कोना पुनीत तपोवन से किसी भी प्रकार कम न रहेगा। राजा जनक प्रभृति अनेकों ऋषि ऐसे हुए हैं जिन्होंने गृहस्थाश्रम में रहने की साधना की है और परम पद पाया है।

वीरता भागने मे नहीं, वरन् लड़ने में है। यदि गृहस्थाश्रम में अधिक कठिनाइयाँ हैं तो उनसे डरकर दूर रहना उचित नहीं। पानी में घुसे बिना तैरना कैसे सीख जायगा? कोई व्यक्ति यह कहे कि मैं अखाड़े में जाकर व्यायाम करने की कठिनाई मे नहीं पड़ना चाहता, परन्तु पहलवान बनना चाहता हूँ, तो उसकी यह बात बालकों जैसी अनगढ़ होगी। काम, क्रोध, लोभ मोह के दाव घातों को देखना, उनसे परिचित होना, उन से लड़कर विजय प्राप्त करना इन्हीं सब अभ्यासों के लिए वर्णाश्रम धर्म के तत्वदर्शी आचार्य ने गृहस्थाश्रम को सर्व श्रेष्ठ, सर्वोपरि आश्रम बताया है। सम्पूर्ण देवर्षि ब्रह्मर्षि राजर्षि इसी महान् गुहा में से उत्पन्न और विकसित हुए हैं। जरा कल्पना तो कीजिए—यदि गृहस्थ धर्म—जिसे निर्बुद्धि लोग माया या बन्धन तक कह बैठते हैं—न होता तो राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा मुहम्मद, गान्धी कहा से आते? सीता, सावित्री, अनुसूया, मदालसा, दमयन्ती, पार्वती आदि सतियों का चरित्र कहां से सुन पड़ता? इतिहास के पृष्ठों पर जगमगाते हुए उज्वल हीरे किस प्रकार दिखाई देते? अन्य तीनों आश्रम बच्चे हैं गृहस्थ

उनका पिता है। पिता को बन्धन कहना, नरक बताना, त्याज्य ठहराना एक प्रकार की विवेक हीनता है।

उत्तर दायित्व का भार पड़े बिना कोई व्यक्ति वास्तविक, गम्भीर, जिम्मेदार और भारी भरकम नहीं होता। अल्हड़ बछेड़े बहुत कूदते फाँदते और दुलत्तियाँ उड़ाते हैं परन्तु जब कंधे पर भार पड़ता है तो बड़ी सावधानी से एक एक कदम रखना पड़ता है। हाथी जब गहरे पानी में घुसता है तो अपना एक पैर भली प्रकार जमा लेता है तब दूसरे को आगे रखता है। उसकी सारी सावधानी और होशियारी उस समय एक स्थान पर केन्द्रीभूत हो जाती है। 'जिस चित्तवृत्ति को' एकाग्रता को, पातञ्जलि ने योग बताया है वह एकाग्रता कोरी बातूनी जमावन्दी से नहीं आती, उसके लिये एक प्रेरणा, जिम्मेदारी, चाहिए। ग्रहस्थाश्रम का बोझ पड़ने पर मनुष्य जिम्मेदारी की ओर कदम बढ़ाता है। अपना और अपने परिवार का बोझ पीठ पर लादकर उसे चलना पड़ता है इसलिये उच्छृंखलता को छोड़कर वह जिम्मेदारी अनुभव करता है। यह जिम्मेदारी ही आगे चलकर विवेकशीलता में परिणत हो जाती है। राजा को एक साम्राज्य के सञ्चालन की बागडोर हाथ में लेकर जैसे सँभल सँभलकर चलना पड़ता है वैसे ही एक सद्गृहस्थ को पूरी दूरदर्शिता, विचारशीलता सहनशीलता और आत्म संयम के साथ अपना हर एक कदम उठाना पड़ता है। चाबुक सवार जैसे घोड़े को अच्छी चाल चलना सिखाकर उसे हमेशा के लिये बढ़िया घोड़ा बना देता है वैसे ही ग्रहस्थ धर्म की ठोक पीटकर कड़ुवे मीठे अनुभव कराकर एक मनुष्य को आत्म संयमी, दूरदर्शी गम्भीर, एव स्थिर चित्त बना देता है। यह सब योग के लक्षण हैं। जैसे फल पक कर समयानुसार डाली से

स्वयं अलग हो जाता है वैसे ही गृहस्थ की डाल से चिपका, हुआ मनुष्य धीरे धीरे आत्म निग्रह और आत्म त्याग की शिक्षा, पाता रहता है और अन्ततः एक प्रकार का योगी होजाता है।

लिप्सा, लालसा तृष्णा, लोलुपता, मदान्धता, अविवेक आदि बातें त्याज्य हैं, यह बुरी बातें गृहस्थ आश्रम में भी हो सकती हैं और अन्य आश्रमों में भी। इसलिये आश्रम त्यागने योग्य नहीं वरन् अपनी कुवासनाऐं ही त्यागने योग्य हैं।

ग्रहस्थ धर्म तुच्छ नहीं है

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन बहुत ही उत्तम, उपयोगी ए लाभदायक साधना है। यह शारीरिक और मानसिक दोनों ह दृष्टियों से हितकर है। जो जितने अधिक समय तक ब्रह्मचारं रह सके उसके लिये उतना ही अच्छा है। साधारणत. लड़क को कम से कम २० वर्ष तक और लड़कियों को १६ वर्ष तक र ब्रह्मचारी अवश्य ही रहना चाहिये। जो अपने मन को वश रख सकें वे अधिक समय तक रहें।

ब्रह्मचर्य में मानसिक संयम प्रधान है। यदि मन वास नाओं में भटकता रहे और शरीर को हठ पूर्वक संयम में र जाय तो उससे लाभ के जगह पर हानि होती है। शारीरि काम सेवन से जितनी हानि है उससे कई गुनी हानि मानसि असंयम से है। वीर्यपात की क्षति आसानी से पूरी हो जाती परन्तु मानसिक विषय चिन्तन से जो उत्तेजना पैदा होती वह यदि तृप्त न हो तो कुचले हुये सर्प की तरह क्रुद्ध हो अपने छेड़ने वालों के ऊपर आक्रमण करती है।

मनोविज्ञान शास्त्र के यशस्वी आचार्य डाक्टर फ्राइड, डाक्टर ब्राउन, डाक्टर हर्न प्रभृति विद्वानों का मत है कि वासनायें कुचली जाने पर सुप्त मन के इसी कोने में एक बड़ा घाव लेकर पड़ रहती है और जब अवसर पाती हैं तभी भयानक शारीरिक या मानसिक रोगों को उत्पन्न करती हैं। उनका कहना है कि पागलपन, मूर्छा, मृगी, उन्माद, भ्रम, नाड़ी संस्थान का विक्षेप, अनिद्रा, कातरता आदि अनेक रोग वासनाओं के अनुचित रीति से कुचले जाने के कारण उत्पन्न होते हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य की पहली शर्त 'मन का स्थिरता' मानी गई है। जिनका मन किन्हीं उत्तम विचारों में निमग्न रहता है, विषय वृत्तियों की ओर जिनका ध्यान ही नहीं जाता या जाता है तो तुरन्त ही अरुचि और घृणापूर्वक वहाँ से हट जाता है वे ही ब्रह्मचारी है। जिनका मन वासना में भटकता है, चित्त पर जो काबू रख नहीं पाते उनके शारीरिक ब्रह्मचर्य को विडम्बना ही कहा जासकता है।

किसी स्रोत में से पानी का प्रवाह जारी हो किन्तु उसके बहाव के मार्ग को रोक दिया जाय तो वह पानी जमा होकर किसी दूसरे मार्ग से फूट निकलेगा। मन से विषय चिन्तन और बाहर से ब्रह्मचर्य यह भी इसी प्रकार का कार्य है। मन में वासना उत्पन्न होने से जो उत्तेजना पैदा होती है वह फूट निकलने के लिए कोई न कोई मार्ग ढूंढती है। साधारण मार्ग बन्द होता है तो कोई और मार्ग बना कर वह निकलती है। यह नया मार्ग अपेक्षाकृत बहुत खतरनाक और हानिकारक साबित होता है।

संसार भर की जन गणना की रिपोर्टों का अवलोकन करने से यह सचाई और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होजाती

है। विवाहित स्त्री पुरुषों की प्रतिशत जितनी मृत्यु होती है विधवा या विधुरों की मृत्यु का अनुपात प्रायः उससे ड्योढ़ा रहता है। मोटी दृष्टि से देखने पर विवाहितों की जीवनी शक्ति अधिक और अविवाहितों की कम खर्च होती है इससे विवाहितों को अल्पायु और रोगी रहने की संभावना प्रतीत होती है परन्तु होता इसका ठीक उलटा है। विवाहित लोग संभोग जन्य क्षय, बालकों का भरण पोषण, अधिक चिन्ता तथा जिम्मेदारी आदि के भार को खींचते हुए भी जितनी आयु और निरोगता प्राप्त करते हैं, अविवाहित लोग उतनी भी नहीं कर पाते। इसका एक मात्र कारण वासना की अतृप्ति से उत्पन्न हुआ मानसिक उद्वेग है। यह उद्वेग बड़ा घातक होता है उसकी विपाक ज्वाला मे सारे जीवन तत्व भीतर ही भीतर जल भुन जाते हैं। चित्त की अस्थिरता और अशान्ति के कारण कोई कहने लायक महान कार्य भी उनसे संपादित नहीं होपाता, कोई बड़ी सफलता भी नहीं मिल पाती। इस प्रकार विवाहितों की अपेक्षा यह अविवाहित अधिक घाटे में रहते हैं।

पाठकों को हमारा आशय समझने में भूल न करनी चाहिए। हम ब्रह्मचर्य की अपेक्षा विवाहित जीवन को अच्छा बताने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। ब्रह्मचर्य एक अत्यन्त उपयोगी और हित कर साधना है इसके लाभों की कोई गणना नहीं हो सकती। इन पंक्तियों में हम मानसिक असंयम और विवाहित जीवन की तुलना कर रहे हैं। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य की साधना में अपने को समर्थ न पावें जो मानसिक वासना पर काबू न रख सके उनके लिए यही उचित है कि विवाहित जीवन व्यतीत करे। होता भी ऐसा ही है सौ में से निन्यानवें आदमी गृहस्थ जीवन बिताते हैं। इस स्वाभाविक प्रक्रिया में कोई अनुचित बात भी नहीं है।

—

यह सोचना उचित नहीं कि गृहस्थाश्रम में बाँधने से आध्यात्मिक उन्नति नहीं होसकती आत्मा को ऊँचा उठा कर परमात्मा तक लेजाना यह पुनीत आत्मिक साधना अन्तःकरण की भीतरी स्थिति से संबंध रखती है। बाह्य जीवन से इसका कुछ भी संबंध नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या सन्यासी आत्म साधना द्वारा जीवन लक्ष को प्राप्त कर सकते हैं वैसे ही गृहस्थ भी कर सकता है। सदा सनातन काल से ऐसा होता आया है। आध्यात्म साधकों में गृहस्थ ही हम अधिक देखते हैं। प्राचीन काल के ऋषि गण आज के गैर जिम्मेदार और अव्यवस्थित बाबाजीओं से सर्वथा भिन्न है। घनी बस्ती न बसाकर स्वच्छ वायु में दूर दूर घर बनाना, पक्के मकान न बना कर छोटी झोंपड़ियों में रहना, वस्त्रों से लदे न रहकर शरीर को खुला रखना, आदि उस समय की साधारण प्रथा था। उस समय के राजा तथा देवताओं के जो चित्र मिलते हैं उससे वे सब भी कटि वस्त्र के अतिरिक्त और कोई कपड़ा पहने नहीं दीखते। यह उस समय की परिपाटी थी। आज जिस वेष भूषा की नकल करके लोग अपने को साधु मान लेते हैं वह पहनाव उढाव, रहन सहन उस समय के सर्व साधारण का है।

यह एक बिलकुल ही वे सिर पैर का विचार है कि पुराने समय में ऋषि लोग अविवाहित ही रहते थे। यह ठीक है कि ऋषि मुनियों में कुछ ऐसे भी थे जो बहुत समय तक अथवा आजीवन ब्रह्मचारी रहते थे पर उनमें से अधिकांश गृहस्थ थे। स्त्री बच्चों के साथ होने से तपश्चर्या में आत्मोन्नति में उन्हें सहायता मिलती थी। इतिहास पुराणों से पग पग पर इस बात की साक्षी मिलती है कि भारतीय महर्षि गण, योगी, यती, साधु तपस्वी, अन्वेषक, चिकित्सक, वक्ता, रचयिता, उपदेष्टा, दार्श-

निक, अध्यापक, नेता आदि विविध रूपों में अपना जीवन यापन करते हैं और अपने महान् कार्य में स्त्री बच्चों को भी भागीदार बनाते हैं।

आध्यात्म मार्ग पर कदम बढ़ाने वाले साधक के सामने आज अज्ञान और अविवेक भरे मूढ़ विश्वासों ने एक भारी उलझन पैदा करदी है। "आत्म साधना गृहस्थ से नहीं होसकती, स्त्री नरक का द्वार है, कुटुम्ब परिवार माया का बन्धन है, इनके रहते भजन नहीं होसकता, परमात्मा नहीं मिल सकता," इस प्रकार की अज्ञान जन्य भ्रम पूर्ण कल्पनाएँ साधक के मस्तिष्क में चक्कर लगाती हैं। परिणाम यह होता है कि यातो वह आत्म मार्ग को अपने लिये असंभव समझ कर उसे छोड़ देता है या फिर पारिवारिक महान उत्तरदायित्व को छोड़कर भीख टूक माग खाने के लिये घर से निकल भागता है। यदि बीच में ही लटका रहा तो और भी अधिक दुर्दशा होती है परिवार उसे गले में बंधे हुए चक्की के पाट की तरह भार रूप प्रतीत होता है। उपेक्षा, लापरवाही, गैर जिम्मेदारी के दृष्टि से बर्ताव करने के कारण उसके हर एक व्यवहार में कुरूपता एवं कटुता रहने लगती है। स्त्री बच्चे सोचते हैं कि यह हमारे जीवन को दुख-मय बनाने वाला है, शत्रुता के भाव मन मे जगते हैं, प्रतिशोध की वृत्तियां पैदा होती है, कटुता, कलह, घृणा और तिरष्कार के विषैले वातावरण की सृष्टि होती है। उस वातावरण में रहने वाला कोई भी प्राणी स्वस्थता और प्रसन्नता कायम नहीं रख सकता।

वास्तविक बात यह है कि आत्मसाधना में जो विक्षेप पैदा होता है उसका कारण अपनी कुवासना, संकीर्णता, तुच्छता अनुदारता और स्वार्थ परता है। यह दुर्भाव ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,

वानप्रस्थ या सन्यास जिस भी आश्रम में रहेंगे उसे ही पाप मय बना देंगे। इसके विपरीत यदि अपने मन में त्याग, सेवा प्रेम, सत्यता, सुजनता, एवं उदारता की भावनाऐं विद्यमान हों तो कोई भी आश्रम स्वर्ग दायक, मुक्ति प्रद, परम पद देने वाला, हो सकता है। आध्यात्म साधकों को अपने मन में से इस भ्रम को पूर्णतया बहिष्कृत कर देना चाहिए कि गृहस्थाश्रम कोई छोटा या गिराने वाला धर्म है। यदि समुचित रीति से उसका पालन किया जाय तो ब्रह्मचर्य या सन्यास की तरह वह भी सिद्धिदाता प्रमाणित हो सकता है।

गृहस्थ धर्म जीवन का एक पुनीत, आवश्यक एवं उपयोगी अनुष्ठान है। स्त्री और पुरुष के एकत्रित होने से दो अपूर्ण जीवन एक पूर्ण जीवन का रूप धारण करते हैं। पक्षी के दो पखों की तरह, रथ के दो पहियों की तरह, स्त्री और पुरुष का मिलन एक दृढ़ता एवं स्थिरता की सृष्टि करता है। शारीरिक और मानसिक तत्व के आचार्य जानते हैं कि कुछ तत्वों की पुरुष में अधिकता और स्त्री में न्यूनता होती है इसी प्रकार कुछ तत्व स्त्री में अधिक और पुरुष में कम होते हैं। इस अभाव की पूर्ति दोनों के सह-चरत्व से होती है। स्त्री पुरुष में एक दूसरे के प्रति जो असाधारण आकर्षण होता है उसका कारण यही क्षति पूर्ति है। मन की सूक्ष्म चेतना अपनी क्षति पूर्ति के उपयुक्त साधन को प्राप्त करने के लिए विचलित होती है तब उसे संयोग अभिलाषा कहा जाता है। अंध और पंगु मिलकर देखने और चलने के लाभों को प्राप्त कर लेते हैं ऐसा ही लाभ एक दूसरे की सहायता से दम्पति को भी मिल जाता है।

सृजन... न तो पुरुष हुआ है न स्त्री। दोनों ही ईश्वर की पवित्र कृतियाँ हैं। दोनों में ही आत्मा का निर्मल प्रकाश जग-

भगाता है। पुरुष का कार्यक्षेत्र घर से बाहर रहने के कारण उसकी बाह्य योग्यतायें विकसित होगई हैं वह बलवान, प्रभावशाली कमाऊ और चतुर दिखाई देता है, पर इसके साथ साथ ही आत्मिक सद्गुणों को इस बाह्य संघर्ष के कारण उसने बहुत कुछ खो दिया है। सरलता, सरसता, वफादारी, आत्म त्याग, दयालुता, प्रेम तथा वात्सल्य की वृत्तियां आज भी स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा बहुत अधिक देखी जाती हैं। मुद्दतों से शिक्षा, दीक्षा, अनुभव एवं सामाजिक कार्य क्षेत्र से प्रथक एक छोटे पिंजड़े से घर में जीवन भर बन्द रहने और अपने जैसी अन्य मूर्खाओं की संगति मिलने के कारण वे बेचारी व्यवहारिक ज्ञान में बहुत कुछ पिछड़ गई हैं तो भी उनमें आत्मिक सद्गुण पुरुषों की अपेक्षा बहुत अधिक विद्यमान है। उनके सान्निध्य से नरक, पतन, माया, बन्धन जैसे किसी संकट के उत्पन्न होने की आशंका नहीं है। सच तो यह है कि उनके पवित्र अंचल की छाया में बैठकर पुरुष अपनी शैतानी आदतों से बहुत कुछ छुटकारा पासकता है, उनकी स्नेह गंगा के अमृत जल का आचमन करके अपने कलुष कषायों से, पाप तापों से, छुटकारा पासकता है।

जिनका अन्तःकरण पवित्र है वे कोमलता की अधिकता के कारण स्त्री में और भी अधिक सत तत्व का अनुभव करते हैं। हजरत मुहम्मद साहब कहा करते थे कि—मेरा स्वर्ग मेरी माता के पैरों तले है। महात्मा विलिन का कथन है कि—ईश्वर ने स्त्री के नेत्रों में दो दीपक रख दिए हैं ताकि संसार में भूले भटके लोग उसके प्रकाश में अपना खोया हुआ रास्ता देख सकें। तपस्वी लोयेल ने एक बार कहा था—नारी का महत्व मैं इसलिए नहीं मानता कि विधाता ने उसे सुन्दर बनाया है, न उससे इसलिये प्रेम करता हूं कि वह प्रेम के लिये उत्पन्न की गई है। मैं तो उसे इसलिये पूज्य मानता हूं कि मनुष्य का मनुष्यत्व

केवल उसी में जीवित है।" विश्व पूर्शी जर्मी टेलर ने अपनी अनुभूति प्रकाशित की थी कि—स्त्री की सृष्टि में ईश्वरीय प्रकाश है। यह एक मधुर सरिता है जहां मनुष्य अपनी चिन्ताओं और दुखों से त्राण पाता है।" दार्शनिक प्लेटो ने कहा है—"सृष्टि के आदि में मनुष्य अपग था वह पृथ्वी के एक कोने में पड़ा सिसक रहा था। स्त्री ने ही उसे उठाया और पाल कर बड़ा किया। आज वही कृतघ्न इन स्त्रियों को पैर की जूती समझता है। कवि हारमेन की अनुभूति है कि—'स्त्रियां भूलोक की कविता हैं। पुरुष के भाग्य का निस्तार उन्हीं के हाथ में है।" कारलाइल कहा करते थे—"यदि तुम प्रेम के साक्षात दर्शन करना चाहते हो तो माता के गद्‌गद् नेत्रों से देखो।" सृष्टि के आरंभ काल का दिग्दर्शन कराते हुए सन्त कंसवेल ने कहा कि—जब तक आदम अकेला था तब तक उसे स्वर्ग भी कण्टकाकीर्ण था। देवताओं के गीत, शीतल समीर और ललित वाटिकाएं उसके लिये सभी व्यर्थ थीं, यह सब होते हुए भी वह उदास रहता था और आहें भरता था, परन्तु जब उसे हव्वा मिल गई तो उसका सारा दुख दूर होगया। कांटे फूलों में बदल गये।"

जिन संतों ने अपने पवित्र नेत्रों से नारी को देखा है उन्हें उसमें ईश्वर की सजीव कविता मूर्तिमान दिखाई दी है। जिनकी आंखों में पाप है उनके लिए बहिन, बेटी और माता की समीपता में ही नहीं प्रत्येक जड़ चेतन की समीपता में खतरा है। जिसके अंचल में आग बंधी हुई है उसके लिये सर्वत्र अग्निकाण्ड का खतरा है, जिसकी आंखों पर हरा ठंडा चश्मा है उसके लिए कड़ी धूप भी शीतल है। पाठको! अपना दृष्टिकोण पवित्र बनाओ। विश्वास रखो, राजा जनक की भांति आप भी गृहस्थ में रहते हुए सच्चे महात्मा बन सकते हैं।

ग्रहस्थ योग से परम पद

पुण्य और पाप किसी कार्य के बाह्य रूप के ऊपर नहीं वरन् उस काम को करने वाले की भावना के ऊपर निर्भर है। किसी कार्य का बाहरी रूप कितना ही अच्छा, ऊँचा या उत्तम क्यों न हो परन्तु यदि करने वाले की भीतरी भावनाऐं बुरी हैं तो ईश्वर के दरबार में वह कार्य पाप में ही शुमार होगा। लोगों को धोखा दिया जासकता है, दुनियाँ को भ्रम या भुलावे में डाला जा सकता है परन्तु परमात्मा को धोखा देना असम्भव है। ईश्वर के दरबार में काम के बाहरी रूप को देख कर नहीं वरन करने वाले की भावनाओं को परख कर धर्म अधर्म की नाप तौल की जाती है।

आज हम ऐसे अनेक धूर्तों को अपने आस पास देखते हैं जो कहने को तो बड़े बड़े अच्छे काम करते हैं पर उनका भीतरी उद्देश्य बड़ा ही दूषित होता है। अनाथालय, विधवाश्रम, गौशाला, आदि पवित्र संस्थाओं की आड़ में भी बहुत से बद-माश आदमी अपना उल्लू सीधा करते हैं। योगी महात्मा, साधु, सन्यासी का बाना पहन अनेक चोर डाकू लुच्चे लफंगे घूमते रहते हैं। यज्ञ करने के नाम पर, भण्डारा करने के नाम पर, कुआ मंदिर बनवाने के नाम पर, पैसा बटोर कर कई आदमी अपना घर भर लेते हैं। बाहरी दृष्टि से देखने पर अनाथालय, विधवाश्रम, गोशाला चलाना, साधु, सन्यासी, महात्मा, उपदेशक बनना, यज्ञ, कुआ, मंदिर बनवाना आदि अच्छे कार्य हैं, इनके करने वाले को पुण्य फल मिलना चाहिए, परन्तु वास्तविक बात यह है कि यदि करने वाले की भावनाऐं निकृष्ट हैं तो यह अच्छे काम भी उसकी पुण्य सम्पदा में कुछ-वृद्धि न कर सकेंगे। वह

व्यक्ति अपने पाप मय विचारों के कारण पापी ही बनेगा, पाप का नरक मय दण्ड ही उसे प्राप्त होगा।

यदि कोई आदमी साधारण काम करता है। मामूली व्यक्तियों की तरह जीवन यापन करता है, किन्तु उन साधारण कार्यों में भी उद्देश्य, मनोभाव और विचार ऊँचे रखता है तो वह साधारण काम भी तपस्या जैसा पुण्य फल दायक हो जाता है। यहीं तक नहीं—बल्कि यहाँ तक भी होता है कि बाहर से दीखने वाले अधर्म युक्त कार्य भी यदि सद्भावना से किये जाते हैं तो वे भी धर्म बन जाते हैं। जैसे हिंसा करना किसी के प्राण लेना, हत्या या रक्त पात करना प्रत्यक्ष पाप है परन्तु आततायी, दुष्ट और दुरात्माओं से संसार की रक्षा करने की सद्भावना से यदि दुष्टों को मारा जाता है तो वह पाप नहीं वरन् पुण्य बन जाता है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करके हजारों लाखों मनुष्यों को मरवा डाला पर इसमें अर्जुन या कृष्ण को कुछ पाप नहीं लगा। राम-रावण युद्ध में बड़ा भारी जन संहार हुआ परन्तु उन दुष्टों को मारने वाले, पापी या हत्यारे नहीं कहलाये। यहां हिन्सा प्रत्यक्ष है, तो भी हिन्सा करने वाले सद्भावना युक्त थे इसलिए उनके कार्य पुण्य मय ही हुए। इसी प्रकार झूठ, चोरी, छल, आदि भी समयानुसार—सद् उद्देश्य से किये जाने पर धर्म-मय ही होते हैं। उन्हें करने वाले को पाप नहीं लगता वरन् पुण्य फल ही प्राप्त होता है।

उपरोक्त पंक्तियों को पढ़कर पाठकों को किसी भ्रम में न पड़ना चाहिए। हम सत्कर्मों की निन्दा या असत् कार्यों की प्रशंसा नहीं कर रहे हैं। हमारा तात्पर्य तो केवल यह कहने का है कि काम का बाहरी रूप कैसा है, इससे दुनियां की स्थूल

दृष्टि ही कुछ समय के लिए चकाचौंध में पड़ सकती है परन्तु अपनी आत्मा उससे संतुष्ट नहीं होसकती और न परमात्मा प्रसन्न हो सकता है। 'आत्मा और परमात्मा के समक्ष तो भावना प्रधान है। संसार के लोगों की सूक्ष्म बुद्धि भी भावना को ही महत्त्व देती है। यदि किसी ने,अपने किसी स्वार्थ साधन के लिए कोई प्रीतिभोज दिया हो या और कोई ऐसा काम किया हो तो जब लोगों को असली बात का पता चलता है तो लोग उसकी चालाकी के लिए मन ही मन मुसकराते हैं, फब्तियां लेते हैं, और मसखरी उड़ाते हैं, धर्मात्मा की बजाय उस चालाक ही समझा जाता है। अब दूसरी ओर चलिए, किसी आदमी द्वारा भूल से, मजबूरी से, या गैर जानकारी से, कोई अनुचित बात होजाती है और जानकारी का पता चलता है तो उस अनुचित बात के लिए भी क्षमा कर दिया जाता है। अदालतें भी अपराधी की नीयत पर मुख्यतया ध्यान रखती है। यदि अपराधी की नीयत बुरी न साबित हो तो अपराधी को कठोर दण्ड का भागी नहीं बनना पड़ता।

जीवन के हर एक काम की अच्छाई बुराई कर्ता की भावना के अनुरूप होती है। जीवन भले ही सादा हो पर यदि विचार उच्च हैं तो जीवन भी उच्च ही माना जायगा। रुपये पैसे या काम के बड़े आडम्बर से पुण्य फल का विशेष संबंध नहीं है। एक अमीर आदमी रुपये के बल से बड़े बड़े ब्रह्म भोज, पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा, कथा पुराण, मंदिर-मठ, कुआ बावड़ी, सदावर्त, यज्ञ-हवन आदि की व्यवस्था आसानी से कर सकता है। दस लाख रुपया अनुचित रीति से कमा कर दस हजार रुपया इस प्रकार के कार्यों में लगाकर धर्मात्मा बनता है। दूसरी ओर एक गरीब आदमी जो ईमानदारी की मेहनत मजूरी

करता है, वह थोड़े से पैसे कमाता है जिससे कुटुम्ब का भरण पोषण कठिनाई से हो पाता है, बचता कुछ नहीं, ऐसी दशा में वह बेचारा भला ब्रह्मभोज, तीर्थयात्रा, यज्ञ अनुष्ठान आदि की व्यवस्था किस प्रकार कर पावेगा ? यदि वह नहीं कर पाता है तो क्या वह धर्म हीन ही रह जायगा ? क्या दुनियां की भौतिक चीज़ों की भांति ही पुण्य फल भी रुपयों से ही खरीदा जाता है ?

इन प्रश्नों की मीमांसा करते हुए पाठकों को यह बात भली प्रकार हृदयंगम कर लेनी चाहिये कि—पुण्य का पैसे से कोई संबंध नहीं है। पुण्य तो भावना से खरीदा जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में रुपये की तूती नहीं बोलती वहाँ तो भावना की प्रधानता है। दंभ, अहंकार, नामवरी, वाहवाही, पूजा, प्रतिष्ठा के प्रदर्शन के लिए धर्म के नाम पर करोड़ रुपये खर्च करने पर भी उतना पुण्य फल नहीं मिल सकता, जितना कि आत्म त्याग, श्रद्धा एवं सच्चे अन्तःकरण से रोटी का एक टुकड़ा देने पर प्राप्त होता है। स्मरण रखिए—सोने की सुनहरी चमक और चांदी की मधुर चमचमाहट आत्मा को ऊँचा उठाने में कुछ विशेष सहायक नहीं होती। आत्मिक क्षेत्र में गरीब और अमीर का दर्जा बिलकुल बराबर है, वहां सब के पास समान वस्तु है—समान साधन है। भावना हर गरीब अमीर को प्राप्त है, उसी की अच्छाई बुराई के ऊपर पुण्य पाप की सारी दारो-मदार है। घटनाओं का घटाटोप, चौंधिया देने वाला प्रदर्शन, बड़े बड़े कार्यों के विराट आयोजन रंगीन बादलों से बने हुए आकाश चित्रों की भाँति मनोरंजक तो हैं पर उनका अस्तित्व कुछ नहीं, सच्चे हृदय से किये हुए एक अत्यंत छोटे और तुच्छ दीखने वाले कार्य का जितना महत्व है उतना दंभ पूर्वक किये हुये बड़े भारी आयोजन का किसी प्रकार नहीं हो सकता।

"भावना की सच्चाई और सात्विकता के साथ-आत्म त्याग और कर्तव्य पालन" यही धर्म का पैमाना है। इस भावना से प्रेरित होकर काम करना ही पुण्य है। सद्भावना जितनी ही प्रबल होगी आत्म त्याग उतना ही बड़ा होगा। पैसे वाला अपने पैसे को लगावेगा, जी खोलकर सत्कार्य में लगावेगा, इसी प्रकार गरीब के पास, जो साधन है उनको ईमानदारी के साथ खर्च करेगा।

लोग ऐसा समझते हैं कि धर्म साधना के लिए, पुण्य फल प्राप्त करने के लिए, आत्मोन्नति के लिए, ईश्वर प्राप्ति के लिए, स्वर्ग या मुक्ति की उपलब्धि के लिए, किन्हीं विशिष्ट, विचित्र या असाधारण कार्यों का आयोजन करने की आवश्यकता होती है। अमुक प्रकार की वेष भूषा, अमुक प्रकार का रहन सहन, अमुक प्रकार का साधन मुक्ति प्रद है यह मानना बिलकुल गलत है। 'वेष भूषा, रहन सहन साधक की सुविधा के लिए है, जिससे उसे आसानी रहे, इनके द्वारा सिद्धि किसी को नहीं मिलती। यदि वेष या रहन सहन से ही सिद्धि मिलती होती तो आज जो साधु नामधारी लाखों कर्म हीन भिखमंगे इधर उधर मारे फिरते हैं यह मुक्ति के अधिकारी होगये होते। अनेक प्रकार की आत्मिक साधनाएं अनेक प्रकार के मानसिक व्यायाम हैं जिनके द्वारा मनोभूमि को भावना क्षेत्र को 'निर्मल पवित्र एवं सात्विक बनाया जाता है। आत्मोन्नति की असंख्य साधनाएं हैं सभी फल प्रद हैं, क्योंकि किसी भी रास्ते से सही, भावना को उच्च बनाना है, यदि मनोभूमि उच्च न बने तो साधना निरर्थक है। साधना एक औजार मात्र है। उसको विवेक पूर्वक काम में लाने से इच्छित वस्तु का निर्माण हो सकता है। पर यदि विवेक पूर्ण क्रिया न हो तो साधना निरर्थक

है। अमुक पुस्तक का पाठ करने, मंत्र जपने, या अभ्यास करने से यदि मनोभूमि निर्मल बनती हो तो आत्मोन्नति होगी पर रूढ़ि की तरह अन्ध विश्वास पूर्वक, अविवेक के साथ किसी मंत्र या पुस्तक को रटते रहा जाय या अमुक प्रकार से काया कष्ट सहते रहा जाय तो उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जीवन लक्ष को प्राप्त करना—आत्मिक पवित्रता द्वारा ही सम्भव है। इस पवित्रता के लिए अनेकों असंख्यों साधन हैं। जिनमें से देश, काल, पात्र को देखते हुए बुद्धिमान व्यक्ति अपने लिए उपयुक्त वस्तु चुन लिया करते हैं। जैसे एक ही कसरत सब के लिए अनिवार्य नहीं है उसी प्रकार एक ही साधन हर मुमुक्षु के लिए आवश्यक नहीं है। शरीर ऋतु, खुराक, पेशा आदि को देख कर ही चतुर व्यायाम विशारद अपने शिष्यों को भिन्न भिन्न प्रकार के व्यायाम कराते हैं उसी प्रकार आत्म तत्वदर्शी आचार्य भी असंख्य योगों में से उपयुक्त योग का अपने अनुयायियों के लिए चुनाव करते हैं।

कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को छोड़कर साधारण श्रेणी के सभी पाठकों के लिए हम गृहस्थ योग की साधना को बहुत ही उपयुक्त, उचित, सुगम एवं सुख साध्य समझते हैं। गृहस्थ योग की साधना भी राजयोग, हठयोग, जप योग, लय योग आदि की ही श्रेणी में आती है। उचित रीति से इस महान् व्रत का अनुष्ठान करने पर मनुष्य जीवन के परम लक्ष को प्राप्त कर सकता है। जैसे कालतार पोत देने पर हर वस्तु काली, और कलई पोत देने पर सफेद हो जाती है उसी प्रकार योग की, साधना की, परमार्थ की, अनुष्ठान की, दृष्टि रख कर कार्य करने से वे कार्य साधनामय, परमार्थ मय हो जाते हैं, अहंकार, तृष्णा, भोग, मोह आदि का भाव रख कर कार्य करने से उत्तम से

उत्तम कार्य भी निकृष्ट परिणाम उपस्थित करने वाले होते हैं। घर गृहस्थी के संस्थान को सुव्यवस्थित रूप से चलाने में भावनाऐं यदि ऊँची, पवित्र, निस्वार्थ और प्रेम मय रखी जावें तो निस्सन्देह यह कार्य अतीव सात्विक एव सद्गति प्रदान करने वाला बन सकता है। अपना आत्मा ही अपने को ऊँचा या नीचा लेजाता है यदि आत्म निग्रह, आत्म त्याग, आत्मोत्सर्ग के साथ अपने जीवन क्रम को चलने दिया जाय तो इस सीधे साधे तरीके की सहायता से ही मनुष्य परम पद को प्राप्त कर सकता है।

ग्रहस्थ योग के कुछ मंत्र

पिछले पृष्ठों पर बताया जा चुका है कि परमार्थ और स्वार्थ पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म यह किसी कार्य विशेष पर निर्भर नहीं, वरन् दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। दुनिया की स्थूल बुद्धि कार्यों का बाहरी रूप देख कर उसकी अच्छाई बुराई का निर्णय करती है परन्तु परमात्मा के दरबार में काम के बाहरी रूप का कुछ महत्व नहीं वहां तो भावना ही प्रधान है। भावना का आरोपण मनुष्य की आन्तरिक पवित्रता से संबंधित है। बनावट, धोखेबाजी और प्रवंचना बाहर तो चल सकती है पर अपनी आत्मा के सामने नहीं चल सकती। अन्तःकरण स्वयमेव जान लेता है कि अमुक कार्य किस दृष्टिकोण से किया जारहा है, वहाँ कोई छिपाव या दुराव काम नहीं दे सकता। वरन जो वास्तविकता है वह ही मनोभूमि में स्वच्छ पट्टिका पर स्पष्ट रूप से अंकित होती है। जिस कार्य प्रणाली के द्वारा अन्तःकरण में आत्म त्याग, सेवा, प्रेम एव सद्भाव का संचार

होता हो वह कार्य सच्चा और पक्का परमार्थ है। वह कार्य निस्संदेह स्वर्ग और मुक्ति की ओर लेजाने वाला होगा। चाहे उस कार्य का बाह्य रूप कैसा ही साधारण या असाधारण, सीधा या विचित्र, छोटा या बड़ा क्यों न हो!

गृहस्थ संचालन के संबंध में भी दो दृष्टिकोण हैं। एक तो ममता, मालिकी, अहंकार, और स्वार्थ का-दूसरा आत्मत्याग, सेवा, प्रेम, और परमार्थ का। पहला दृष्टिकोण बन्धन पतन, पाप और नरक की ओर लेजाने वाला है। दूसरा दृष्टिकोण मुक्ति उत्थान, पुण्य और स्वर्ग को प्रदान करता है। शास्त्रकारों ने, सन्त पुरुषों ने, जिस गृहस्थ की निन्दा की है, बन्धन बताया है और छोड़ देने का आदेश दिया है वह आदेश स्वार्थ मय दृष्टिकोण के संबंध में है। परमार्थ मय दृष्टिकोण का गृहस्थ तो अत्यन्त उच्च कोटि का आध्यात्मिक साधन है। इसे तो प्रायःसभी ऋषि, मुनि, महात्मा, योगी, यती, तथा देवताओं ने अपनाया है और उसकी सहायता से आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है। इस मार्ग को अपनाने से उनमें से न तो किसी को बन्धन में पड़ना पड़ा और न नरक को जाना पड़ा। यदि गृहस्थ बन्धन कारक, नरकमय होता तो उससे पैदा होने वाले बालक पुण्य-मय कैसे होते? बड़े बड़े योगी यती इस मार्ग को क्यों अपनाते? निश्चय ही गृहस्थ धर्म एक परम पवित्र, आत्मोन्नति कारक, जीवन को विकसित करने वाला, धार्मिक अनुष्ठान है, एक सत् समन्वित आध्यात्मिक साधन है। गृहस्थ का पालन करने वाले व्यक्ति को ऐसी हीन भावना मन में लाने की कुछ भी आवश्य-कता नहीं है कि वह अपेक्षाकृत नीचे स्तर पर है या आत्मिक क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है या कमजोर है। अविवाहित जीवन और विवाहित जीवन में तत्वतः कोई अन्तर नहीं है। यह अपनी

अपनी सुविधा रुचि और कार्य प्रणाली की बात है, जिसे जिसमें सुविधा पड़ती हो वह वैसा करे। जिनका कार्यक्रम देशाटन का हो उन्हें स्त्री बच्चों का झंझट पालने की आवश्यकता नहीं, परन्तु जिन्हें नियत स्थान पर रहना हो उनके लिए विवाहित होने में ही सुविधा है। इसमें पिछड़े हुए और बढ़े हुए की कुछ चीज नहीं, दोनों का दर्जा बिलकुल बराबर है। मानसिक स्थिति और कार्य प्रणाली के आधार पर तुच्छता और महानता होती है। जहाँ भी ऊँचा दृष्टिकोण होगा वहां ही महानता होगी।

जीवन का परम लक्ष आत्मा को परमात्मा में मिला देना है, तुच्छ को महान में, एक को अनेक में घुला देना है व्यक्तिगत स्वार्थ को प्रधानता न देते हुए लोकहित की भावना से काम करना, यही आध्यात्मक साधना है इस साधना को क्रियात्मक जीवन मे लाने के लिए भिन्न भिन्न तरीके हो सकते हैं। उन तरीकों में से एक तरीका ग्रहस्थ योग भी है। बालक घर में से ही प्रारंभिक क्रियाऐं सीखता है। जीवन के लिए जितने काम चलाऊ ज्ञान की आवश्यकता है उसका आधे से अधिक भाग घर में ही प्राप्त होता है। हमारी आत्मिक साधना भी घर से ही आरंभ होनी चाहिए। जीवन को उच्च, उन्नत, सुसंस्कृत, संयमित, सात्विक, सेवामय एव परमार्थ पूर्ण बनाने की सबसे अच्छी प्रयोगशाला अपना घर ही होसकता। स्वाभाविक प्रेम, उत्तरदायित्व, कर्तव्य पालन, परस्पर अवलम्बन, आश्रय स्थान, स्थिर क्षेत्र, लोक लाज, आदि अनेक कारणों से यह क्षेत्र ऐसा सुविधा जनक होजाता है कि आत्मत्याग और और सेवामय दृष्टिकोण के साथ काम करना इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है।

गृहस्थ योग के साधक के मन में यह विचार धारा चलती रहनी चाहिए कि—"यह परिवार मेरा साधन क्षेत्र है। इस वाटिका को सब प्रकार सुन्दर सुरभित और पल्लवित बनाने के लिए सच्चे हृदय से सदा शक्ति भर प्रयत्न करते रहना मेरा कर्मकाण्ड है। भगवान ने जिस वाटिका को सींचने का भार मुझे दिया है, उसे ठीक तरह सींचते रहना मेरी ईश्वर परायणता है। घर का कोई भी सदस्य ऐसा हीन दर्जे का नहीं है जिसे मैं तुच्छ समझूं, उपेक्षा करूँ या सेवा से जी चुराऊँ, मैं मालिक, नेता, मुखिया या कमाऊ होने का अहंकार नहीं नहीं करता. यह मेरा आत्म निग्रह है। हर एक सदस्य के विकाश में अपनी सेवाएं लगाते रहना मेरा परमार्थ है। बदले की जरा सी भी इच्छा न रख कर विशुद्ध कर्तव्य भाव से सेवा में तत्पर रहना मेरा आत्म त्याग है। अपनी सुख सुविधाओं की परवाह न करते हुए, औरों के सुख सुविधा बढ़ाने का प्रयत्न करना मेरा तप है। घर के हर सदस्य को सद्गुणी, सत् स्वभाव का, सदाचारी एवं धर्म परायण बनाकर विश्व की सुख शान्ति में वृद्धि करना मेरा यज्ञ है। सब के हृदयों पर जिसका मौन उपदेश हो, अन्तःकरण से सुसंस्कार बनें अपना आचरण ऐसा पवित्र एवं आदर्शमय रखना मेरा व्रत है। धर्म उपार्जित अन्न से जीवन निर्वाह करना और कराना यह मेरा संयम है। प्रेम उदारता सहानुभूति की भावना से ओत प्रोत रहना और रखना प्रसन्नता, आनन्द और एकता की वृद्धि करना मेरी आराधना है। मैं अपने गृह-मन्दिर में भगवान की चलती फिरती प्रतिमाओं के प्रति अगाध भक्ति भावना रखता हूँ। सद्गुण, सत् स्वभाव, और सत् आचरण की दिव्य शृंगार से इन प्रतिमाओं को सुसज्जित करने का प्रयत्न ही मेरी पूजा है। मेरा साधन

सच्ची है, साधना के प्रति मेरी भावना सच्ची है, अपनी आत्मा के सम्मुख मैं सच्चा हूं। सफलता असफलता की जरा भी परवा न करने सच्चे निष्काम कर्म योगी की भाँति मैं अपने प्रयत्न की सचाई में संतोष अनुभव करता हूँ। मैं सत्य हूं, मेरी साधना सत्य है। मैंने सत्य का आश्रय ग्रहण किया है उसे सत्यता पूर्वक निबाहने का प्रयत्न करूँगा।"

उपरोक्त मंत्र हर गृहस्थ योगी को भली प्रकार हृदयंगम करलेना चाहिए। दिन में कई कई बार इस मंत्र को दुहराना चाहिए। एक छोटे कार्ड पर सुन्दर अक्षरों में लिख कर इस मंत्र को अपने पास रख लेना चाहिए और जब भी अवकाश मिले एक एक शब्द का मनन करते हुए इस मंत्र को पढ़ना चाहिए। होसके तो बड़े अक्षरों में लिखकर सुन्दर चित्र की भाँति इसे अपने कमरे में लगा लेना चाहिए। प्रातः निद्रा त्यागने पर पलंग पर पड़े पड़े ही कई बार इस मंत्र को मन ही मन दुहराना चाहिए और निश्चय करना चाहिए कि आज दिन भर इस भावनाओं को अधिक से अधिक मात्रा में कार्य रूप में परिणित करने का प्रयत्न करूँगा। परिवार वालों के साथ व्यवहार करते समय मंत्र की भावना का सतर्कता पूर्वक ध्यान रखूँगा। इस निश्चय के साथ शय्या त्याग करने का असर दिन भर रहता है। प्रात काल जो आदेश अन्तर्मन का दिये जाते हैं अधिक गहरे उतर जाते हैं, वे जल्दी विस्मरण नहीं होते और यथा अवसर वे ठीक समय पर स्मरण हो आते हैं। इसलिए प्रातः काल इस मंत्र को नियमित रूप से अवश्य ही दुहराना चाहिए:—

'मैं गृहस्थ योगी हूँ। मेरा जीवन साधना मय है। हम देते हैं—क्या करते हैं, क्या सोचते हैं क्या कहते हैं, इसक

में तनिक भी परवाह नहीं करता। अपने आपमें मैं सन्तुष्ट रहता हूँ. मेरी कर्तव्य पालन की सच्ची साधना इतनी महान है, इतनी शान्ति दायिनी, इतनी तृप्ति कारक है कि उसमें मेरी आत्मा आनन्द में सराबोर होजाती है। मैं अपनी आनन्द-मयी भावना को निरन्तर जारी रखूँगा गृह क्षेत्र में परमार्थ भावनाओं के साथ ही काम करूँगा।" यह संकल्प दृढ़ता पूर्वक मनमें जमा रहना चाहिए। जब भी मन विचलित होने लगे, जब भी पैर पीछे हिगने की संभावना प्रतीत हो तभी इस संकल्प को मनोयोग पूर्वक दृढ़ करना चाहिए।

रात्रि को सोते से पूर्व दिन भर के कार्यों पर विचार करना चाहिए। (१) आज परिवार से संबन्ध रखने वाले क्या क्या कार्य किये ? (२) उनमें क्या भूल हुई ? (३) स्वार्थ से प्रेरित होकर क्या अनुचित कार्य किया ? (४) भूल के कारण क्या अनुचित काम हुआ ? (५) क्या क्या कार्य अच्छे, उचित और गृहस्थ योग की मान्यता के अनुरूप हुए ? इन पाँच प्रश्नों के अनुसार दिन भर के परिवारिक कार्यों का विभाजन करना चाहिए और आगे से त्रुटियों के सुधार का उपाय सोचना चाहिए। (१) भूल को तलाश करना, (२) उसे स्वीकार करना, (३) गलती के लिए लज्जित होना और (४) उसे सुधारने का सच्चे मन से प्रयत्न करना यह चार बातें जिसे पसन्द हैं, जो इस मार्ग पर चलता है, उसकी गलतियाँ दिन दिन कम होती जाती हैं और वह शीघ्र ही दोषों से छुटकारा पा लेता है।

गृहस्थ योग की साधना के मार्ग पर चलते हुए साधक के मार्ग में नित नई कठिनाइयाँ आती रहती हैं। कभी अपनी भूल से, कभी दूसरों की भूल से, ऐसी घटनाएं घटित हो

जाती हैं, जिनका नियत सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। इच्छा रहती है कि अपना हर एक आचरण ठीक रहे हरएक क्रिया सिद्धान्तानुकूल हो, परन्तु अक्सर भूलें होती ही रहती हैं, साधक कुछ दिन तक सोचता है कि दस बीस दिन में या महीने में यह भूलें दूर होजाँयगी और मेरी सम्पूर्ण क्रियाऐं सिद्धान्तानुकूल होने लगेंगी, पर जब काफी समय बीत जाता है और तब भी भूल समाप्त नहीं होतीं तो चिन्ता, निराशा और पराजय की भावनाऐं मन में घूमने लगती है। साधक सोचता है, इतने दिन से प्रयत्न कर रहा हू, पर स्वभाव पर विजय नहीं मिलती, नित्य गलतियाँ होती हैं, ऐसी दशा में यह साधना चल नहीं सकती। कभी सोचता है, हमारे घर वाले उजड्ड, गँवार, मूर्ख और कृतघ्न हैं, यह लोग मुझे परेशान एवं उत्तेजित करते हैं और मेरे जीवन को साधन की नियत दिशा में नहीं चलने देते। जब सफलता ही नहीं मिलती, कुछ प्रगति ही नहीं होती तो साधन व्यर्थ है, इस प्रकार के निराशाजनक विचारों से प्रेरित होकर वह अपने व्रत को छोड़ देता है।

उपरोक्त कठिनाई से हर साधक को आगाह हो जाना चाहिए। मनुष्य स्वभाव में त्रुटियाँ और कमजोरियाँ रहना निश्चित है। जिस दिन मनुष्य पूर्ण रूपेण त्रुटियों से परे हो जायगा उसी दिन वह परम पद को प्राप्त कर लेगा, जीवन मुक्त हो जायगा। जब तक उस मंजिल तक नहीं पहुँच जाते जब तक मनुष्य योनि मे है, देव योनि से पीछे हैं, तब तक यही मानना पड़ेगा कि मनुष्य त्रुटि पूर्ण है। जहां कई ऐसे व्यक्तियों का सम्मेलन है जिनमें कोई तो आत्मिक भूमिकामें बहुत आगे, कोई बहुत पीछे है ऐसे क्षेत्र में नित नई त्रुटियों का,

कठिनाइयों का सामने आना स्वाभाविक है। इनमें से कुछ अपनी गलती के कारण उत्पन्न हुई होंगी, कुछ दूसरों की गलती से। यह क्रम धीरे धीरे कम तो होता जाता है पर यह कठिन है कि अपना परिवार पूर्ण रूपेण देव परिवार होजाय, इसके लिए बहुत समय की सम्भवतः कई जन्मों की आवश्यकता है। इस कठिनाई से डरने घबराने या विचलित होने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है: साधन का अर्थ ही—"त्रुटियों के सुधार का अभ्यास" है। अभ्यास को निरन्तर जारी रखना चाहिए। योगीजन नित्य प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा-ध्यान आदि की साधना करते हैं, क्योंकि उनकी मनोभूमि अभी दोष पूर्ण है, जिस दिन उनके दोष सर्वथा समाप्त हो जायँगे, उसी दिन उसी क्षण वे ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त कर लेंगे, दोषों का सर्वथा अभाव, यह अन्तिम मंजिल का, सिद्ध अवस्था का लक्षण है। वहाँ तक पहुँच जाने पर तो कुछ करना ही बाकी नहीं रह जाता। साधकों को यह आशा न करनी चाहिए कि थोड़े ही समय में इच्छित भावनाएं पूर्ण रूप से क्रिया में आ जायेंगी। विचार क्षण भर में बन जाता है, पर उसे संस्कार का रूप धारण करने में बहुत समय लगता है। हथेली पर सरसों नहीं जमती। पत्थर पर निशान करने के लिए रस्सी की रगड़ बहुत समय तक जारी रहनी चाहिए। स्मरण रखिए—दोषों से सर्वथा मुक्ति-यह लक्ष है, ध्येय है, सिद्ध अवस्था है। साधन का प्रारम्भिक लक्षण यह नहीं है। आम का पौधा उगते ही यदि मीठे आम तोड़ने के लिए उसके पत्तों को टटोलेंगे तो मनोकामना पूर्ण न होगी।

गृहस्थ योग की अपनी साधना आरम्भ करते हुए आप इस बात के लिए कमर कस कर तैयार हो जाइए, कि भूलों

त्रुटियों, कठिनाइयों और असफलताओं का आपको नित्य सामना करना पड़ेगा, नित्य उनसे लड़ना पड़ेगा, नित्य उनका संशोधन और परिमार्जन करना होगा, और अन्त में एक न एक दिन सारी कठिनाइयों को परास्त कर देने होगा। जैसे भूख, निद्रा, मल त्याग आदि नित्य कर्मों को रोज करते हैं तो भी दूसरे दिन फिर उनकी जरूरत पड़ती है, इस रोज रोज के झमेले से कोई निराश या अनुत्साहित नहीं होता वरन् धैर्य पूर्वक नित्य ही उनकी व्यवस्था की जाती है। इसी प्रकार गृहस्थ योग की साधना में अपनी या दूसरों की कमजोरी से जो भूलें हों उनसे डरना या निराश न होना चाहिए वरन् अधिक दृढ़ता एव उत्साह से उनके परिमार्जन का धैर्य पूर्वक प्रयत्न करते रहना चाहिए।

पूर्ण रूप से सुधार हुआ है या नहीं यह देखने की अपेक्षा यह देखना चाहिए कि पहले की अपेक्षा सात्विकता में कुछ वृद्धि हुई है या नहीं? यदि थोड़ी बहुत भी बढ़ोतरी हुई हो तो यह आशा, उत्साह, प्रसन्नता और सफलता की बात है। बूँद बूँद से घड़ा भर जाता है, कन कन जोड़ने से मन जमा हो जाता है, राई राई इकट्ठा करने से पर्वत बन जाता है, यदि प्रति दिन थोड़ी थोड़ी सफलता भी मिले तो हमारे शेष जीवन के असंख्य दिनों में वह सफलता बड़ी भारी मात्रा में जमा हो सकती है। यह सम्पत्ति किसी प्रकार नष्ट होने वाली नहीं है। यह जमा होने का क्रम अगले जन्म में भी जारी रहेगा और लक्ष तक एक न एक दिन पहुँच ही जाया जायगा, धीरे धीरे सफलता मिले तो अधिक उत्साह से काम करना चाहिए। निराश होकर छोड़ बैठने की कोई आवश्यकता नहीं है।

आप जब आत्म निरीक्षण द्वारा अपनी भूलों को देखें, तब उन्हें देखकर निराश न हों वरन् इस भावना को मनः क्षेत्र में स्थान दें—"वीर योद्धा की तरह मैं जीवन युद्ध में रत हूँ। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते समय के जो बुरे संस्कार हमारे साथ अनुपयुक्त संस्कार अभी हम लोगों में लगे हुए शेष रह गये हैं, वे बार बार मार्ग में विघ्न उपस्थित करते हैं, कभी मैं गलती कर बैठता हूँ, कभी दूसरे गलती कर देते हैं, आये दिन ऐसे विघ्न सामने आते रहते हैं, परन्तु मैं उनसे जरा भी विलचित नहीं होता, मैं नित्य इन कठिनाइयों से लड़ूंगा। ठोकर या चोट खाकर भी चुप न बैठूंगा, गिर पड़ने पर फिर उठूंगा और धूलि झाड़कर फिर युद्ध करूँगा। लड़ने वाला ही गिरता और घायल होता है, कुसंस्कार यदि मुझे गिरा देते हैं तो भी मुझे उनके विरुद्ध युद्ध जारी रखना ही चाहिए। मैं सत्य मार्ग का पथिक हूँ, सच्चिदानन्द आत्मा हूँ, अपने और दूसरों के कुसंस्कारों से निरन्तर युद्ध जारी रखना और उन्हें परास्त कर देने तक दम न लेना ही मेरा कर्तव्य है। मैं अपने संकल्प, प्रन, साधन और उद्देश्य के प्रति सच्चा हूं। अपनी सचाई की रक्षा करूंगा और इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करके रहूँगा। भूलों को नित्य परखने, पकड़ने और उन्हें हटाने का कार्य मैं सदा एक रस उत्साह के साथ जारी रखूंगा।"

उपरोक्त मन्त्र को असफलता के निरीक्षण के साथ मनन करना चाहिए। इससे निराशा नहीं आने पाती। ग्रहस्थ योग के मूल भूत सिद्धान्तों का बीज मन्त्र, दृढ़ता का, संकल्प और त्रुटियों से धर्म युद्ध जारी रखने की प्रतिज्ञा यह तीनों ही महामन्त्र साधकों की मनोभूमि में खूब गूँजने चाहिए। अधिक से अधिक इन विचार धाराओं में ओत प्रोत रहना चाहिये। यदि

मनोभाव इस विचार शृंखला से भरे रहें तो तदनुसार जीवन-क्रम बनने में भी कुछ अधिक कठिनाई न होगी।

परिवार की चतुर्विधि पूजा

स्वार्थ बुद्धि में व्यवहृत होने वाले गृहस्थ को माया बन्धन कहा गया है, मैं घर का स्वामी हूं, घर के प्रत्येक सदस्य को मेरी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए, प्रत्येक को मेरी इच्छानुसार चलना चाहिए, प्रत्येक को मेरी मर्जी और सुविधा का आचरण करना चाहिए, मैं जिस तरह रखना चाहूँ उस तरह रहना चाहिए, इस प्रकार की इच्छा और आकांक्षाओं को लेकर जो गृहस्थ में प्रवेश करता है, उसे निस्सन्देह उसमें नरक, दुख, क्लेश, भार, बन्धन या माया के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। यह सभव नहीं कि सब लोग अपनी मन मर्जी के बन जावे। गुण कर्म और स्वभाव की भिन्नता हर मनुष्य में पाई जाती है. अनेक जन्मों के संचित संस्कारों के समूह द्वारा स्वभाव बनता है, प्रयत्न करने पर उसमें सुधार तो होजाता है, पर यह संभव नहीं कि कोई प्राणी अपनी मौलिकता को बिलकुल खो दे। हर व्यक्ति की रुचि-इच्छा, वृत्ति, भावना एवं प्रवृत्ति भिन्न होती है, मिट्टी के पुतले की तरह चुपचाप हर एक आज्ञा को मन, वचन और कर्म से कोई शिरोधार्य करले यह सभव नहीं। इस प्रकार कुछ न कुछ मत भेद रहेगा ही, अपने अपने स्वार्थों का सघर्ष मिट नहीं सकता, इस प्रकार आपकी आज्ञा मानने में जहा उसके निजी स्वभाव और स्वार्थ में संघर्ष होता होगा, वह व्यक्ति आज्ञा पालन में आना कानी करेगा। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि अपनी मर्जी यदि परिवारक स्थिति की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ गई तो भी दूसरे

उसे मानने में तत्पर न होंगे। ऐसी दशा में जो असन्तोष, मन मुटाव, क्रोध, कलह एवं संघर्ष होगा वह अशान्ति का कारण बनेगा। घर में दुख ही दुख दिखाई देगा।

ऐसी दुखदायी स्थिति उत्पन्न न होने पाये इसके लिए समझौते की नीति से काम लेना पड़ता है। अपनी मर्जी पर अड़ने, या उसे दूसरों पर बलात् थोपने की अपेक्षा अपने आपको नरम बनाना पड़ता है। जिस सीमा तक कोई दुष्परिणाम उपस्थित न होता हो उस सीमा तक समझौता कर लेना चाहिए। यह ठीक है कि घर के लोगों का ठीक मार्ग पर रखना अपना कर्तव्य है। पर यह भी ठीक है कि पूर्ण रूपसे किसी को तत्काल इच्छानुवर्ती बना लेना भी सुगम नहीं। थोड़ा झुकाने से ही काम चलता है। समझौते की नीति से गुजर होती है। सरकस के लिए जानवरों को सधाने वाले, मास्टर जानते हैं कि उजड्ड जगली जानवरों को रास्ते पर लाने में, इच्छित खेल सिखाने में कितनी देर लगती है, कितना नरम गरम होना पड़ता है। बिलकुल कड़ाई और बिलकुल ढील यह दोनों ही बातें उपयोगी नहीं, बीच के रास्ते से चलना, उदारता और सहन शीलता के आधार पर काम करना ही हितकर होता है इसी आधार पर घर की सुख शान्ति कायम रह सकती है।

शान्ति सन्तोष और व्यवस्था कायम रखने का तरीका यह है कि आत्म त्याग की नीति को प्रधानता दी जाय। आप अपना उदाहरण ऐसा रखें, जिसे देख कर घर के अन्य लोगों को भी आत्म-त्याग की प्रेरणा मिले। "मुझे कम-आपको ज्यादा" यह भाव जितनी ही प्रधानता प्राप्त करेंगे उतनी ही शान्ति और सुव्यवस्था कायम रहेगी। गृहस्थ योगीको अपनेको एक निस्वार्थ, निष्पक्ष एवं सद्भावी सेवक के रूप में घर वालों के सामने

उपस्थित करना चाहिए। घर के लोगों से मुझे क्या लाभ मिलता है ? यह लोग मेरे आत्म त्याग की कद्र करते हैं या नहीं ? इन प्रश्नों को मन में कभी प्रवेश न करने देना चाहिए। वरन् सदा यह सोचना चाहिए कि—एक ईमानदारी माली की तरह मैं अपनी वाटिका को सुरभित बनाने में शक्ति भर प्रयत्न करता हूं या नहीं ? अपनी योग्यता और सामर्थ्य में से कुछ चुराता तो नहीं हूँ ? मेरी निस्वार्थता और निष्पक्षता में किसी प्रकार कमी तो नहीं आ रही है ? कर्तव्य पालन में किसी प्रकार का आलस्य या प्रमाद तो नहीं हो रहा है ? यदि इन प्रश्नों का सन्तोष जनक उत्तर मिलता हो तो यह बड़ी ही आनन्द दायक और शान्ति प्रद बात समझी जानी चाहिए। प्रशंसा होती है या नहीं ? कोई अहसान मानता है या नहीं ? सफलता मिलती है या नहीं ? इन प्रश्नों का लेखा लेना मानो अपनी साधना को चौपट करना है। इन प्रश्नों का सन्तोष-जनक या असन्तोष जनक उत्तर देना दूसरों के हाथ की बात है। साधक को अपनी प्रसन्नता दूसरों के हाथ नहीं बेचनी चाहिये ? दूसरों के कुछ देने से प्रसन्नता मिले, यह एक कंगाली की स्थिति है। हमें आनन्द का स्रोत अपनी आत्मा में ढूंढ़ना चाहिए। यदि ठीक प्रकार कर्तव्य का पालन किया गया हो तो इससे अधिक आनन्द दायक दुनिया की और कोई बात नहीं हो सकती।

संसार की सुख शान्ति में वृद्धि करना यही तो परमार्थ का लक्षण है। प्याऊ, धर्मशाला, कुआ, तालाब, बावड़ी, बगीचा सड़क, पाठशाला, औषधालय आदि का निर्माण करने वाले धर्मात्मा लोग इन कार्यों द्वारा दूसरे लोगों के कष्ट निवारण और सुख में वृद्धि करना चाहते हैं। अनेक प्रकार की संस्थाओं के स्थापन और संचालन का भी यही उद्देश्य है। महात्मा, त्यागी,

वैरागी, तपस्वी, देशभक्त लोक सेवक, परोपकारी सत्पुरुषों की साधना भी इसी उद्देश्य के लिए होती है। शास्त्रकारों ने विश्व की सुख शान्ति बढ़ाने वाले कार्यों का करना ही धर्म, तथा ईश्वर प्रणिधान बताया है और कहा है कि ऐसे कार्यों से ही मनुष्य को लोक परलोक में पुण्य फल प्राप्त होता है। परमार्थ का यह कार्य अनेक रीतियों से किया जाता है। उन रीतियों में एक बहुत ही महत्वपूर्ण रीति यह भी है कि मनुष्यों में सत् तत्व की वृद्धि कीजाय। सच पूछा जाय तो यही रीति सर्वोपरि है। किसी को अन्न जल वस्त्र आदि दान देने की अपेक्षा उसके विचार और कार्यों को उत्तम बना देना अनेक गुना पुण्य है। कारण यह है कि जो व्यक्ति सद्गुणी, सदाचारी और सद्भावी बनजाता है वह सुगन्धित पुष्प की भांति जीवन भर हर घड़ी समीपवर्ती लोगों को शान्ति प्रदान किया करता है। सज्जन पुरुष एक प्रकार का जीवित और चलता फिरता सदावर्त है जो प्रतिदिन प्रचुर परिमाण में आत्मिक भोजन देकर अनेक व्यक्तियों को सच्चा प्राण दान देता है। दस हजार सदावर्त या जलाशय स्थापित करने की अपेक्षा एक पुण्यात्मा मनुष्य तैयार कर देना अधिक सुफल प्रदान करने वाला है।

अपने परिवार में यदि अच्छी भावना और विचार-धारा ओत प्रोत करदी जाय तो कुटुम्बियों के स्वभाव और चरित्र में सात्त्विकता की वृद्धि होगी और फिर उसके द्वारा-अनेक लोगों को पथ-प्रदर्शन मिलेगा। एक पेड़ के बीज अनेकों नये पौदे उत्पन्न करते हैं और फिर उन नये पौदों के बीज और नये नये पेड़ उपजाते हैं, एक से दस, दस से सौ, सौ से हजार, इस प्रकार यह शृंखला फैलती है और आगे निरन्तर बढ़ती ही रहती है। इस प्रकार यदि सत स्वभाव के चार मनुष्य बना दिये

गये तो उनका प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हजारों लाखों मनुष्यों पर पड़ता है। हरिश्चन्द्र, शिव, दधीचि, शिवाजी, राणाप्रताप, आदि की तरह कोई कोई तो ऐसे निकल आते हैं, जिनका शरीर मर जाने पर भी 'यश शरीर' जीवित रहता है और लाखों करोड़ों वर्षों तक वह यश शरीर संसार में धर्म भावना का संचार करता रहता है। मनुष्यों को सात्विक, उच्च, महान् बनाना इतना महान् पुण्य कार्य है जिसकी ईंट, पत्थर से बनने वाले छोटे छोटे कार्यों से कोई तुलना नहीं की जा सकती। शास्त्र में लिखा है कि शिष्य के पाप पुण्यों के दसवें भाग का हिस्सेदार उसका गुरु होता है। जिस अध्यापक की कक्षा के लड़के अधिक फेल होते हैं उसका दर्जा घट जाता है और जिसका परीक्षा फल अच्छा रहता है उसको तरक्की मिलती है। कारण यह है कि छात्रों के फेल पास होने के साथ अध्यापक का परिश्रम जुड़ा हुआ है, इसलिए लड़कों के फेल पास होने में निन्दा प्रशंसा का भागी अध्यापक को भी बनना पड़ता है। इसी प्रकार स्वजनों के सद्गुणी या दुर्गुणी होने का पुण्य पाप गृह संचालक को भी लगता है। यदि स्वजनों को अपने परिश्रम, सद्भाव और आत्म त्याग द्वारा अच्छा सच्चा और उन्नत बनाया जा सका तो यह कार्य एक अत्यन्त उच्च कोटि के पुण्य कार्य से किसी प्रकार कम न होगा। यदि सब लोग अपने अपने परिवारों को सुधारें तो सारी दुनिया का थोड़े ही समय सुधार होना संभव है। यदि अपने अपने क्षेत्र की जिम्मेदारी सब लोग पूरी करलें तो इस पृथ्वी का स्वर्ग उतरा हुआ ही समझिए।

सूक्ष्म दृष्टि से यह निरीक्षण करते रहना चाहिए कि घर के हर एक स्त्री, पुरुष, बालक, बालिका को शारीरिक, और

मानसिक उन्नति का समुचित अवसर मिल रहा है या नहीं ? जीवन विकास और भविष्य निर्माण के स्वाभाविक अधिकार से कोई वंचित तो नहीं रह रहा है ? किसी को अनावश्यक सुविधा और किसी पर अनुचित दबाव तो नहीं पड़ रहा है ? इन तीनों प्रश्नों पर बारीकी से नजर डालते रहने से यह बात मालूम होती रहती है कि किस व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता है। कुछ ऐसी प्रथा चल पड़ी है कि लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को और बिना कमाने वालों को या कम कमाने वालेकी अपेक्षा अधिक कमाने वाले को अधिक सुविधा दी जाती है। खाने, पहनने, मनोरंजन तथा सम्मान पाने में आगे रहते हैं। बेचारी लड़कियां और स्त्रियां तो एक प्रकार के फालतू प्राणी समझे जाते हैं उनकी सुविधा आवश्यकता और विकाश की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है । यह अन्याय मिटना और मिटाया जाना चाहिए। स्त्रियों लड़कियों न कमाने वालों और रोगी, वृद्ध या असमर्थों को भी उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप समुचित सुविधायें मिलनी चाहिए।

यह चिन्ता करना गलत है कि कम आमदनी होने के कारण घर के सब लोगों की आवश्यकता किस प्रकार पूरी की जा सकेगी ? छोटी आमदनी होने पर जीवन निर्वाह का व्यवस्था कम मितव्ययी और सादगी पूर्ण बना लेना चाहिए। मोटा कपड़ा, मोटा अनाज, साधारण रहन सहन रखने और टीम, टीम फैशन, तड़क भड़क, दिखावट की अनावश्यक चीजों का स्वेच्छा और प्रसन्नता पूर्वक त्याग कर देने से थोड़ी आमदनी में अच्छी तरह काम चल सकता है। अमीर, फिजूल खर्च, फैशन परस्त, छैल छबीले लोगों की नकल करने में अनावश्यक पैसा

खर्च करने में कुछ भी बुद्धिमानी नहीं है। सादगी में सात्वि
कता है। समय को फिजूल कार्यों में से बचाकर शरीर वस्
और मकान को साफ, स्वच्छ, निर्मल एवं उज्वल रखा ज
सकता है। यदि असमानता और पक्षपात चलता रहे त
अमीरी में भी कलह वैमनस्य और दुर्भाव रहेंगे यदि निष्प
क्षता, समानता और आत्म त्याग रहे तो गरीबी में भी प्रे
एवं सन्तोष का जीवन व्यतीत होगा। दुनियां में बहुत
अमीर हैं, ठाठ बाट से रहते हैं, शान शौकत रखते हैं, मौ
मजा करते हैं, उनके ऐश आराम और रहन सहन की नक
करने की जरूरत नहीं उनकी तीक्ष्ण बुद्धि चतुरता, परिश्र
शीलता और जागरुकता की नकल करनी चाहिए, जिन गु
से उन्हें वैभव मिला है उन गुणों की तरफ देखना चाहि
उनकी दूषित नीति या फैशन परस्ती के दोषों को अपनाने
कोशिस नहीं करनी चाहिए। सादगी और गरीबी पारिवारि
आनन्द को कायम रखने में किसी प्रकार बाधक न
हो सकती।

स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन, तथा भविष्य निर्माण
हर एक को अवसर मिलना चाहिए। यह देखते रहना चाहि
कि किसी के ऊपर ऐसा शारीरिक या मानसिक दबाव तो न
पड़ रहा है, जिसके कारण उसका स्वास्थ्य नष्ट होता है
आहार विहार के असंयम के कारण कोई अपने को अस्वस्थ
के मार्ग पर तो नहीं बढ़ाये लिये जा रहा है यह ध्यान रखने
बात है। यदि बहुमूल्य, बढ़िया, पौष्टिक भोजन प्राप्त न हो
हो, मोटा झोटा खाकर गुजारा करना पड़ता हो तो इसमें च
चिन्ता की बात नहीं है, इससे स्वास्थ्य नष्ट नहीं हो सक
आहार विहार की अव्यवस्था ही वह दोष है जिसके का

स्वास्थ्य नष्ट होता है। कीमती से कीमती भोजन इस दोष से होने वाले नुकसान को पूरा नहीं कर सकता। भोजन, शयन, व्यायाम, मल त्याग, स्नान, सफाई, ब्रह्मचर्य, नियत-परिश्रम आदि का ध्यान रखाजाय तो अस्वस्थता से बचा रहा जासकता है। यदि कभी बीमारी का अवसर आवे और रोग साधारण हो तो बड़े बड़े डाक्टरों की लम्बी फीसें चुकाने और विलायती दवाओं के लिए घर खाली कर देने की आवश्यकता नहीं है किसी अनुभवी और सहृदय व्यक्ति की सलाह से मामूली दवादारू के द्वारा रोग निवारण की कोशिश करनी चाहिए। तेज और जहरीली दवाओं की भरमार से उस समय तो लाभ हो जाता है पर पीछे अनेक उपद्रव उठ खड़े होते हैं। इसलिए उपवास, फलाहार एवं मामूली चिकित्सा से रोग को दूर करना चाहिए।

शरीर की भूख बुझाने के लिए जैसे भोजन आवश्यक है उसी प्रकार मानसिक भूख को बुझाने के लिए शिक्षा आवश्यक है। घर के हर व्यक्ति को शिक्षित बनाना चाहिए। जो स्कूल जा सकते हों वे स्कूल में शिक्षा प्राप्त करें, जिनके लिए यह संभव न हो वे घर पर पढ़ें। बच्चे जवान या बूढ़े कोई भी क्यों न हों सभी को पढ़ने की रुचि उत्पन्न करानी चाहिए और उसके लिए साधन तथा व्यवस्था का प्रबन्ध करना चाहिए। एक दो घंटे का समय नियमित रूप से गृह पाठशाला चलती रहे। अक्षर ज्ञान होजाने के उपरान्त ऐसी चुनी हुई पुस्तकें उन्हें देनी चाहिए जिससे शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, धार्मिक आदि विषयों का आवश्यक ज्ञान क्रमशः बढ़ता रहे। जीवन विज्ञान की आवश्यक समस्याओं को वे समझें और उन पर बारीकी के साथ विचार करना सीखें तथा

प्रामाणिक व्यक्तियों की उस विषय पर सम्मतियाँ पढ़ें। रामायण आदि धार्मिक पुस्तकें पढ़ना ठीक है, परन्तु केवल मात्र इतिहास पुराणों तक ही सीमित न रहना चाहिए। जीवन संग्राम की प्रत्यक्ष समस्याओं का समझना और सुलझाना भी आवश्यक है। यह भी धर्म का ही एक अंग है। अक्षर ज्ञान-शब्द, कोष, व्याकरण आदि द्वारा भाषा का ज्ञान बढ़ना चाहिए साथ साथ आवश्यक विषयों पर सत्संग, विवाद, प्रश्नोत्तर, शंका समाधान, प्रवचन आदि उपायों से जानकारी, बुद्धिमत्ता, विचार शक्ति की विद्या की भी वृद्धि होनी चाहिए। शिक्षा एवं विद्या की वृद्धि का अवसर हर एक को आवश्यक रूप से उसी प्रकार मिलना चाहिए जैसे कि भोजन की व्यवस्था जरूरी होती है।

स्वास्थ्य और शिक्षा के बाद मनोरंजन का प्रश्न आता है। यह भी एक आवश्यक प्रश्न है। यदि मनुष्य को आनन्दित होने, उल्लसित होने, हँसने, प्रसन्न होने, खेलने, मनोविनोद करने का अवसर न मिले तो उसकी मनोभूमि बड़ी कर्कश, चिड़चिड़ी, असहिष्णु और निराशामय बन जायगी। जो सदा कोल्हू के बैल की तरह काम में जुते रहते हैं, कैदी की की तरह एक नियत क्षेत्र में काम करते रहते हैं, भोजन, मजूरी और निद्रा यही तीन कार्यक्रम जिनके रहते हैं उनकी मानसिक चेतना की सरसता धीरे धीरे सूखती जाती है और वे भीतर तथा बाहर से अनुदार, विरोधी, दोषारोपण करने वाले, अविश्वासी, डरपोक और कायर बन जाते हैं। ऐसे लोगों को दुनियाँ के प्रति सदा अविश्वास और असन्तोष रहता है। इन प्रवृत्तियों के कारण शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होने लगता है, आयु घटने लगती है, बुढ़ापा घेर लेता है।

 1024

पौधे को विकसित होने के लिए अच्छी जमीन और पानी की जरूरत है, पर साथ ही हवा भी चाहिए इसी प्रकार जीवन, विकाश के लिए भोजन, शिक्षा तथा मनोरंजन से वंचित रहते हैं और अपने घर वालों को वंचित रखते हैं वे एक बड़ा अन्याय करते हैं। नीति कारों का वचन है कि 'जो संगीत, साहित्य तथा कला से विहीन है वह बिना सींग पूँछ का पशु है। इस कथन का तात्पर्य मनोरंजन रहित, शुष्क, नीरस जीवन की भर्त्सना करना है। निश्चय ही मनोरंजन एक आवश्यक भोजन है. जिसके-बिना जीवन कुछ मुरझाने लगता है। कुरुचि पूर्ण दूषित, अश्लील, मनोरंजन से बचना ठीक है। सादा और सात्विक मनोरंजनों को तलाश करना चाहिए और उसके आधार पर मनोविनोद करना चाहिए, संगीत, गायन, वाद्य. भ्रमण, सम्मिलन, सहभोज, उत्सव, मेला, प्रतियोगिता, चित्र कला, व्याख्यान, देशाटन, प्रदर्शनी, सजावट, अद्भुत और ऐतिहासिक वस्तुओं का निरीक्षण, खेल, यात्रा, आदि अनेक मार्गों से यथा अवसर मनोरंजन के छोटे मोटे साधन प्राप्त किये जा सकते हैं। घर के पुरुषों को तो ऐसे अवसर मिलते रहते हैं पर स्त्रियों और बालकों को इससे वंचित रहना पड़ता है। यह उचित नहीं, उन्हें भी यथा शक्य ऐसे अवसर देने चाहिये। छोटे बालकों के लिए खिलौने जुटाते रहना चाहिए। मनोविनोद के कार्य में यदि थोड़ा पैसा खर्च होता हो तो उसमें कन्जूसी न करनी चाहिए, क्योंकि इस मार्ग में जो उचित खर्च होता है वह फिजूल खर्ची नहीं वरन् जीवन की एक वास्तविक आवश्यकता का पूर्ति है।

चौथी बात भविष्य निर्माण की है। आज की जरूरत किसी प्रकार पूरी हो जाय केवल मात्र इतने से ही सन्तुष्ट न

होजाना चाहिए वरन् यह देखना चाहिए कि हर व्यक्ति
भविष्य उन्नत, सुखमय, समृद्ध प्रकाशवान एवं उज्वल कैसे
सकता है। प्राणी के जन्म धारण करने के उद्देश्य किसी प्रक
दिन काटते रहना नहीं वरन् यह है कि वह अपनी स्थिति
ऊंचा उठावे, आगे बढ़े और अधिक साधन सम्पन्न होता हु
निरंतर विकसित है। ऊँचा-ऊँचा और अधिक ऊँचा जीव
बने, इसके लिए सदैव सोचते और प्रयत्न करते रहने
आवश्यकता है। भीतरी और बाहरी जीवन के दोनों पह
निरन्तर विकसित होते रहें ऐसा कार्यक्रम सदा जारी रहन
चाहिए। भविष्य मे उन्नति कर सकने के लिये जिन साधनों
आवश्यकता है उन साधनों को जुटाने के लिए सदैव ध्या
रखना आवश्यक कर्तव्य है। अपनी शारीरिक, मानसिक
आर्थिक और सामाजिक कठिनाई को हल करने योग्य शिक्ष
योग्यता और अनुभव सपादन किये बिना जीवन सुखमय न
बन सकता। इसलिए पढ़ने लिखने की, कमाने की, स्व
रहने की, बीमारी से बचे रहने की, बोलने चालने की, ले
देने की योग्यताएं एकत्रित करने के अवसर हर एक को मिल
चाहिए। अपने पैरों पर खड़े होकर अपनी योग्यता से अप
निर्वाह कर लेने की क्षमता संपादन करने का आरम्भ से
ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि दुर्भाग्यवश ऐसे अवसर
जीवन में आ सकते हैं जब नियत सम्पत्ति से या स्वजनों
हाथ धोना पड़े। ऐसे समय में वही मनुष्य विजयी होता
जिसने विपत्ति से लड़ने योग्य शस्त्रों से अपने को पह
ही सुसज्जित कर रखा हो।

इन चारों बातों को घर के हर मनुष्य के
करके देखना चाहिये कि इन आवश्यकताओं में

पुरुषों की अपेक्षा आत्म त्याग और स्नेह की मात्रा स्त्रियों में बहुत अधिक होती है पर वह अपने बच्चे या पति में अत्यधिक लग जाने के कारण दूसरों के लिए कम बचती है। समझा-बुझाकर, एक दूसरे के लिये उदारता प्रकट करने का अवसर देकर, उन्हें यह अनुभव करना चाहिए कि परिवार के सब सदस्य बिलकुल निकटस्थ, बिलकुल सगे हैं। विरानेपन या परायेपन की दृष्टि से सोचने की दुर्भावना को हटाकर आत्मीयता की दृष्टि से सोचने योग्य उनकी मनोभूमि को तैयार करना चाहिये। बड़े बूढ़े यह आशा न करें कि हमारे साथ शिष्टाचार की अति बरती जानी चाहिए, उन्हें छोटों के प्रति क्षमा, उदारता, प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए, दास, नौकर या गुलाम जैसा नहीं। इसी प्रकार छोटों को बड़ों के प्रति आदर भाव रखना चाहिए, घर के अन्य कामों की अपेक्षा पहले उनकी आवश्यकता और इच्छाओं को पूरा करना चाहिए। घर का काम धंधा आम तौर से बँटा हुआ रहना चाहिये। बीमारी, कमजोरी, गर्भावस्था या अन्य किसी कठिनाई की दशा में दूसरों को उसका काम आपस में बांटकर उसे हलका कर देना चाहिए। नित्य पहिनने के जेवरों को छोड़कर अन्य जेवर सम्मिलित रखे जा सकते हैं जिनका आवश्यकतानुसार सब कोई उपयोग करले। आपको यदि पैसे की व्यवस्था हो तो सबके लिए अलग अलग जेवर भी बन सकते हैं पर वे सब के पास करीब करीब बराबर होने चाहिए। नई शादी होकर आने वाली बहु के लिये अपेक्षा कृत कुछ अधिक चीजें होना स्वाभाविक है। विशेष अवस्था को छोड़ कर साधारणतः सब का भोजन वस्त्र करीब करीब एकसा ही होना चाहिए। इस प्रकार स्त्रियों में एकता रह सकती है।

यदि कोई गलती कर रहा हो तो एकान्त में उसे प्रेम पूर्वक उसकी ऊँच नीच और लाभ हानि समझानी चाहिए। सबके सामने कड़ा विरोध करना, अपमान करना गाली बकना, मारना पीटना बहुत ही अनुचित है। इससे सुधार कम और बिगाड़ अधिक होता है। द्वेष, दुर्भाव और घृणा की वृद्धि होती है, यह सब होना एक अच्छे परिवार के लिए लज्जाजनक है। समझाने से आदमी मान जाता है और अपमानित करने से वह क्षुब्ध होकर प्रतिशोध लेता एव उपद्रव खड़े करता है।

दूसरों की आख बचाकर अपने लिए अधिक लेना बुरा है। बाजार में चुपके से स्वादिष्ट पदार्थ चटकर आना, चुपके चुपके निजी कोष बढ़ाना, अपने मनोरजन, शौक या फैशन के लिए अधिक खर्च करना घर भर का ईर्षा द्वेष, घृणा असतोष और निन्दा के लिये आमन्त्रित करना है। बाहर व्यवसाय क्षेत्र में काम करने के लिए यदि बढ़िया कपड़ों की आवश्यकता है तो सब लोगों को यह अनुभव करना चाहिये कि यह शौक या फैशन के लिए नहीं आवश्यकता के लिए किया गया है। अधिक परिश्रम की क्षति पूर्ति के लिए यदि कुछ विशेष खुराक की जरूरत है तो दूसरों को यह महसूस होने देना चाहिए कि यह चटोने पन के लिए नहीं जीवन रक्षा के लिए किया गया है। भावनाऐं छिपती नहीं, चटोरपन या फैशन परस्ती बात बात में टपकती है, विशेष आवश्यकता की विशेष पूर्ति केवल विशेष अवसर पर ही रहती है शेष आचरण सब के साथ घुला मिला और समान रहता है। जिसे जो विशेष सुविधा प्राप्त करनी हो वह प्रकट रूप से होनी चाहिये।

मधुर सम्मान युक्त बोलना, मधुर सम्मान युक्त बुलवाना स्वय प्रसन्न रहना दूसरों को प्रसन्न रखना आवश्यक

है। और इन सबसे अधिक आवश्यक यह है कि परिवार का खर्च चलाने के लिए ईमानदारी से परिश्रम पूर्वक पैसा कमाया जाय। अनुचित रूप से कमाया हुआ अन्न सब की मन बुद्धि को दूषित करता है और फिर वे दूष नाना प्रकार से कलह दुर्भाव और दुर्गुणों के रूप में प्रकट होते हैं। ईमानदारी से से कमाये हुए अन्न से ऐसा सात्विक रक्त बनता है कि उसके शारीरिक और मानसिक स्वस्थता एवं सात्विकता अपने आप प्रचुर परिमाण में प्राप्त होती है और उसके आधार पर बिना अधिक परिश्रम के सद्भाव बढ़ते रहते हैं।

गृहस्थ योगी को चाहिये कि अपने परिवार को सेवा-क्षेत्र बनावे। परिजनों को ईश्वर की प्रति मूर्तियां समझ कर उनकी सेवा में दत्त चित्त रहे, उन्हें भीतरी और बाहरी स्वच्छता से समन्वित करके सुशोभित बनावे। इस प्रकार अपनी सेवा-वृत्ति और परमार्थ भावना को जो नित्य पोषण करता है, उसकी अन्तः चेतना वैसे ही पवित्र हो जाती है जैसी अन्य योग साधकों की। गृहस्थ योगी को वही सद्गति उपलब्ध होती है जिसे अन्य योगी प्राप्त करते हैं।

सद्व्यवहार की आवश्यकता

गृह कलह की चिनगारी जिन घरों में सुलग जाती है, उनमें बड़ा अप्रिय कटु और दुखदायी वातावरण बना रहता है। इसका कारण अधिकांश में यह होता है कि एक दूसरे के प्रति उचित शिष्टता और सम्मान का ख्याल नहीं रखा जाता। आर्थिक हानि लाभ के आधार पर उतने कलह नहीं होते जितने शिष्टता, सम्मान, सभ्यता, मधुरता के अभाव के कारण होते

हैं। यह कमी दूर की जानी चाहिये। परिवार के हर सदस्य को उचित सम्मान प्राप्त करने का अधिकार है. किसी के अधिकारों पर अनावश्यक कुठाराघात न होना चाहिए। जो कोई अशिष्ठता, उच्छ्रंखलता, उद्दण्डता, अहंकार, अपमान या कटुभाषण की नीति अपनाता हो उसे प्रेम पूर्वक समझाया बुझाया जाना चाहिए। यदि आपसी स्नेह भाव में कमी आगई हो तो उसके कारणों को ढूंढ़कर उचित समाधान करना चाहिए।

जरा सी बात पर तुनक कर न्यारे साझे की तुच्छता नहीं फैलने देनी चाहिए। जहा तक संभव हो सम्मिलित परिवार ही रहना चाहिए। सम्मिलित रहने में आत्मिक विकाश का जितनी सुविधा है उतनी अलग रहने में नहीं है। परन्तु यदि ऐसा लगे कि आपसी मनोमालिन्य बढ़ रहा है, गृह कलह शान्त हाने में सफलता नहीं मिलतो, या अलग रहने म अधिक सुख शान्ति की संभावना है तो प्रेम पूर्वक अलग अलग होजाना चाहिए। अलग रहने की व्यवस्था के पश्चात् भी परिवारिक प्रेम में किसी प्रकार की कमी न आने पावे इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। अलग रहने से वियोग का थोड़ा, सा दर्द आत्मीयता में, प्रेम भाव में बढ़ोतरी करने वाला होता है। अलग होते ही भोजन, रहन सहन का प्रबन्ध अलग होने मात्र से ही, परायेपन का सा व्यवहार आरम्भ हो जाना तुच्छता और आत्मिक दृष्टि से एक बड़ी दीनता का द्योतक है।

स्मरण रखिए-ग्रहस्थ एक योग है। इसको साधना योगी-की साधक की दृष्टि रखकर कीजाय तो वही महान फल प्राप्त-हो सकता है जो अन्य प्रकार की महान आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा प्राप्त होता है।

मुद्रक—प० गिरधरलाल शर्मा लक्ष्मी प्रिंटिंग प्रेस, मथुरा।